संस्कृति

compiled and created by Bhartesh Mishra

बुद्ध का संकिसा में अवतरण
(नवीं सदी ईसवी, कांस्य)
पटना संग्रहालय, पटना

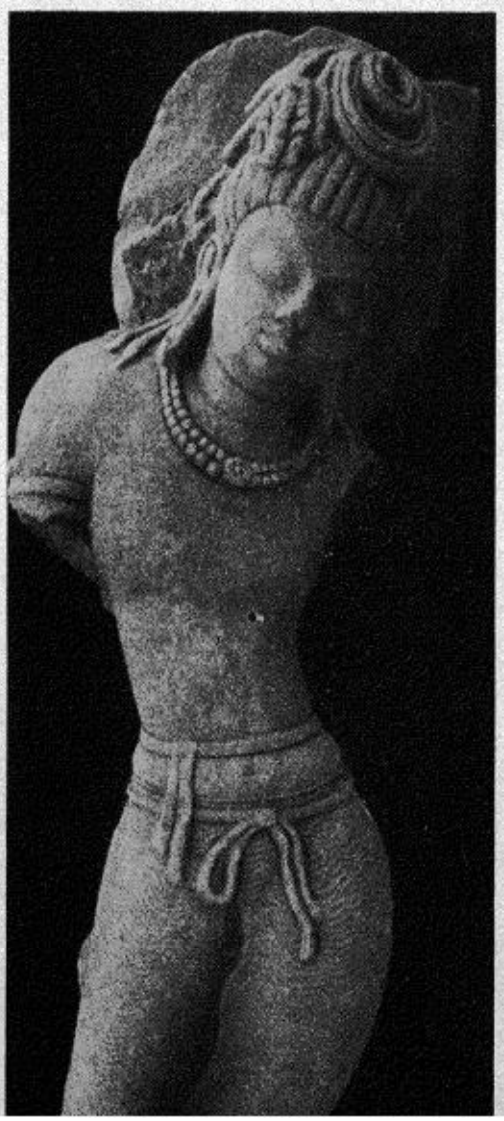

बोधिसत्व
(छठी सदी, गुप्त)
कौशाम्बी संग्रहालय, प्रयाग

compiled and created by Bhartesh Mishra

संस्कृति

वर्ष 2
अंक 4

(सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि त्रैमासिक पत्रिका)

पौष, 1882
(दिसम्बर, 1960-जनवरी, 1961)

वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक कार्य मंत्रालय
भारत शासन

compiled and created by Bhartesh Mishra

करे आत्म-निर्माण लोक-गण,
आत्मोज्ज्वल भू-मंगल के हित
बहिरन्तर जड़ चेतन वैभव,
संस्कृति में कर निखिल समन्वित।

—सुमित्रानन्दन पन्त

प्राच्या नव्या विलसतुतरां संस्कृतिर्भारतीया

सम्पादक-मंडल
प्रो० मा० सं० थेकर
श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
डा० नगेन्द्र
श्रीमती मुरियल वासी
राजेन्द्र द्विवेदी (सचिव)

compiled and created by Bhartesh Mishra

संस्कृति

वर्ष 2 • पौष, 1882 (दिसम्बर, 1960-जनवरी, 1961) अंक 4

विषय-सूची

दृष्टिकोण

संस्कृति और जनसाधारण : एक संगोष्ठी 2-3 बनारसीदास चतुर्वेदी
4-6 डा० सत्येन्द्र
6-7 चार्ल्स फाबरी
7-9 मीना स्वामीनायन
9-10 आर० के० कपूर
भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता : एक संगोष्ठी 11-14 डा० नगेन्द्र
14-15 काका कालेलकर
16-17 के० एम० पन्निकर
17-19 जैनेन्द्र कुमार
हमारा रहन-सहन : एक संगोष्ठी 20-21 पी० पारिजा
21-22 मो० मुजीब

रंगमंच

विज्ञान के नये उपादान और नाटक 23-25 विष्णु प्रभाकर

स्तम्भ

सम्पादकीय 1
26-28 बिन्दु···बिन्दु···विचार
सांस्कृतिक हलचलें 29-32
33-34 लोक मंच
सांस्कृतिक समाचार 35-42
43-45 अंजलि
समीक्षा 46-50
51 परिचय

compiled and created by Bhartesh Mishra

संस्कृति चैत्र, आषाढ़, आश्विन और पौष में प्रकाशित होती है।

यह देश-विदेश में सांस्कृतिक कार्य और प्रयोगों पर प्रामाणिक जानकारी देती है। इसकी सामग्री बिना किसी पक्षपात के प्रस्तुत की जाती है। 'संस्कृति' में प्रतिपादित विचार लेखकों के होते हैं, 'संस्कृति' के नहीं। "सांस्कृतिक-समाचार" स्तम्भ के अन्तर्गत दिए जाने वाले समाचार विभिन्न सूत्रों से इकट्ठे किए जाते हैं और 'संस्कृति' उनकी प्रामाणिकता के बारे में जिम्मेवार नहीं है।

'संस्कृति' में केवल वे ही रचनाएं स्वीकार की जाएंगी जो अन्यत्र न छपी हों। 'संस्कृति' के लिए रचनाएं और चन्दा भेजने और अंकों के पहुंचने के बारे में पूछताछ का पता है : सम्पादक, 'संस्कृति' वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक कार्य मंत्रालय, 1 ई० 3 कर्जन रोड 'ए' बैरक्स, नई दिल्ली।

वार्षिक चन्दा चार रुपए है और एक अंक का मूल्य एक रुपया है। मूल्य पहले ही मनीआर्डर से आ जाना चाहिए।

'संस्कृति' में प्रकाशित लेख फिर से छापे जा सकते हैं, लेकिन इस पत्रिका का उल्लेख अवश्य किया जाना चाहिए और प्रकाशन की एक प्रति सम्पादक के पास भेजी जानी चाहिए।

समीक्षा के लिए सांस्कृतिक विषयों सम्बन्धी पुस्तकों की दो-दो प्रतियां भेजी जानी चाहिए।

compiled and created by Bhartesh Mishra

सम्पादकीय

'संस्कृति' सदैव यह स्वीकार करती रही है कि संस्कृति का गिने-चुने विशेषज्ञों और अभिजात लोगों की अपेक्षा जनसाधारण के जीवन से ज्यादा पास का सम्बन्ध होता है। संस्कृति की स्रोतस्विनी की सफलता तभी है, जब जनसाधारण उससे शीतलता और तृप्ति लाभ करे। संस्कृति के दुकूल का निर्माण कला और चिन्तन के जिस ताने-बाने से किया जाता है, उसकी परिणति जनसाधारण के आवेष्टन-आवरण में ही है।

रोटी-रोजी या अन्य आर्थिक चिन्ताओं के वात्याचक में व्यस्त जनसाधारण ऊपरी दृष्टि से राजनीति और अर्थनीति की ओर जितना उन्मुख दिखाई देता है, उतना संस्कृति की ओर नहीं। पर जैसा ऊपर बताया गया है, यह ऊपरी दृष्टि से देखने की ही बात है। नहीं तो आदिम युग से आज तक अधभूखी और अधनंगी रहने वाली वनजातियां भी अपनी एक अलग संस्कृति सर्वत्र-सदैव बचाए चली आई हैं। आज भी लोक कला के माध्यमों—लोकगीतों, लोकनृत्यों आदि में जो निखार दिखाई देता है, वह बड़े ही समृद्ध अभिजातवर्ग की बड़ी ही समृद्ध कलाओं में भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

अत : संस्कृति जनसाधारण के जीवन में जितनी गहराई तक जाती है, राजनीति उसके शतांश तक भी नहीं पहुंच सकती। बड़े से बड़े राजनीतिक नेताओं की अमर-वाणी को न जानने वाला जनसाधारण यशस्वी कवियों—लेखकों-सन्तों की अमर-वाणी को अच्छी तरह जानता-पहचानता है। जिन्हें मतदान-पेटिका में मतदान करने का तरीका या उसका प्रतिफल समझने की भी शक्ति नहीं, ऐसी ग्राम्यवृद्धायें भी तुलसी की रामायण, कर्कचतुर्थी की चित्रकारी या अल्पना या चौक पूरने की विविध चमत्कारक प्रणालियों और परंपरागत संस्कृति के अन्य अनेक-रूपों से सहज-सुपरिचित होती हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि संस्कृति का जनसाधारण से अत्यन्त ही निकट का सहज सम्बन्ध है। यह विचित्र संयोग है कि जिस जनसाधारण के पास अवकाश के अत्यन्त परिसीमित क्षण होते हैं, वही संस्कृति के ज्ञान, अनुभव और अभ्यास द्वारा साध्य रूपों के अत्युत्कृष्ट प्रणता और मर्मज्ञ पारखी होते हैं। दूसरी ओर विशिष्ट जन विशेष साधना के बाद उस उत्कृष्टता के कुछ अंश तक ही सफलता प्राप्त कर पाते हैं। जनसाधारण न तो अपने सुसंस्कृत होने का दावा ही करता है और न वह अपने को वैसा समझता ही है, फिर भी देश या जाति विशेष की संस्कृति के निरूपण में जनसाधारण की ओर ध्यान दिए बिना किसी भी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचा जा सकता।

इस अंक में हम दृष्टिकोण के अंतर्गत इसी जनसाधारण और संस्कृति के अन्योन्य सम्बन्ध पर प्रकाश डालने वाले कुछ लघुलेख दे रहे हैं। यह विषय बहुत ही विस्तृत है और हमारा प्रत्येक लेखक प्राय : अपने अलग दृष्टि-कोण से इस पर विचार करता है। 'भारती संगम' के तत्वावधान में आयोजित संगोष्ठी 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता' में पढ़े गए चार प्रमुख निबंध भी इस अंक में दिये जा रहे हैं। भारतीय रंगमंच की समस्याओं पर संस्कृति के पृष्ठों में बहुत कुछ कहा जा चुका है। यद्यपि संस्कृति के पिछले अंक में हम रहन-सहन विषयक संगोष्ठी की पूर्णाहुति दे चुके थे, तथापि एक परिशिष्ट के रूप में दो अन्य प्रदेशों के लेख हम इस अंक में देने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं। इस प्रकार उक्त संगोष्ठी का क्रम पूरा हो जाता है।

आगामी रवीन्द्रनाथ टैगोर शताब्दी समारोह के प्रसंग में 'अंजलि' नाम से एक नया स्तम्भ भी इस अंक से शुरू किया जा रहा है।

—सम्पादक

compiled and created by Bhartesh Mishra

संस्कृति और जनसाधारण: एक संगोष्ठी

'संस्कृति' के आरंभिक अंक में हमने संस्कृति और राजकीय सहायता विषय पर एक संगोष्ठी आयोजित की थी। इस अंक में हम उसी प्रश्न के एक दूसरे महत्वपूर्ण पहलू पर विचार कर रहे हैं। आरंभ में ही हमें यह मान लेना चाहिए कि संस्कृति और जनसाधारण दोनों ही शब्दों की यथार्थ परिभाषा या लक्षण देना सरल कार्य नहीं है। साधारणत: हमारे लेखकों ने जनसाधारण की परिभाषा यह मानी है: वह जनसमुदाय, जिसे विधिवत् शिक्षा न मिली हो या अत्यल्प रूप में मिली हो। दूसरी ओर संस्कृति उन उच्चतर चीजों की संघटना है, जो मानव को पशु से ऊपर उठाती है। वह सभी रूपों में मानव का पशुता से ऊपर उन्नयन और संस्कार है। संस्कृति के विभिन्न उपादानों के सर्जक उन-उन उपादानों की सृष्टि स्वान्तः सुखाय ही करते हैं, या वे चाहते हैं कि जन-साधारण भी उनसे आनन्द-विभोर होकर गौरवान्वित हो? दूसरी ओर क्या यह माना जा सकता है कि जन-साधारण सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियों का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक हो सकता है? कलाकार और जनसाधारण के बीच की यह खाई कितनी गहरी है और क्या जनसाधारण का संस्कृति के श्रेष्ठ उपादानों —कलाकृतियों—से कोई सम्पर्क नहीं होना चाहिए? संस्कृति का जनसाधारण से क्या सम्बन्ध है? क्या जनसाधारण के पास इतना अवकाश है कि वह उन्हें सांस्कृतिक अभिरुचियों में व्यय कर सके? संस्कृति के उपादानों के संरक्षण के लिए जनसाधारण के प्रजातंत्रीय राज्य को कितना उन्मुख होना चाहिए? अर्थात् राज्य, संस्कृति और जनसाधारण इस त्रिकोण की मध्यवर्ती रेखायें क्या हैं और उनका सीधा रूप कैसा है?

ये सब और इनसे सम्बन्ध अन्य अनेक प्रश्न ऐसे हैं, जिनका उत्तर किसी न किसी रूप में देने की चेष्टा हमारे लेखकों ने की है। उन्होंने इस प्रश्न के अनेक पहलुओं को लिया है। परन्तु उनमें से किसी के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका निर्णय अंतिम है। ये प्रश्न नये नहीं हैं और आ-प्रलय पूछे जाते रहेंगे। इसलिए इनका जो भी समाधान सुझाया जाएगा, वह अल्पकालीन ही रहेगा। इस प्रश्न पर हम अपने सजग पाठकों के विचार पत्रों का स्वागत करेंगे।

—सम्पादक

: एक :

भारत जैसे महान् देश में, जहां अस्सी फीसदी जनता अशिक्षित है, किसी सांस्कृतिक प्रोग्राम को सफल बना देना अत्यन्त ही कठिन कार्य है और फिर अभी तक हम लोग यह भी तो तय नहीं कर पाए कि हमें जन-साधारण के सम्मुख क्या सांस्कृतिक लक्ष्य रखना है।

जिन लोगों को हम सुसंस्कृत बनाना चाहते हैं उनकी सामाजिक तथा मानसिक स्थिति का सही-सही अन्दाजा तो हमें सबसे पहले लगा लेना चाहिए। रोग का निदान किए बिना इलाज कैसे किया जा सकता है?

भले ही हम अपनी प्राचीन संस्कृति का दम भरते रहें या दम्भ करते रहें—और इसमें शक नहीं कि उसमें बहुत कुछ संरक्षणीय है—पर इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान समय में हमारी जनता अनेक कुसंस्कारों की शिकार है और उनमें सबसे अधिक भयंकर कुसंस्कार है जातिवाद का, जो हमारी रक्त-मज्जा में प्रविष्ट हो गया है और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जिसका बोलबाला दीख पड़ता है, यहां तक कि विश्वविद्यालयों में भी उस साम्प्रदायिकता का आश्रय लिया जाता है।

लक्ष्य के विषय में हमारे यहां दो मत नहीं हो सकते। सबको अन्न-वस्त्र मिले पढ़ने-पढ़ाने की सुविधा और जीवन के लिए कोई उपयोगी साधन, इस विषय पर भला किसी को क्या ऐतराज होगा।

जनसाधारण के जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा को स्थापित करना और सुशिक्षित आदमियों को भी यह बतला देना कि मेहनत-मजदूरी का कोई भी काम नीच नहीं है, यह भी एक आवश्यक

compiled and created by Bhartesh Mishra

कार्य है। प्रश्न यह है कि हम जन-साधारण में उस अदम्य प्रेरणा को कैसे भरें, जिससे वह अपनी तथा अपने आस-पास की जनता के कल्याण के लिए और सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए जी-तोड़ परिश्रम करे? आगे चल कर उन्हें यह भी बतलाना होगा कि हमारे देश की उन्नति विश्वभर की उन्नति के साथ सम्बद्ध है और सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण में ही हमारा कल्याण है।

सवाल यह है कि जन-साधारण तक ये भाव कैसे पहुंचे?

यह काम लेखकों, कवियों, पत्रकारों, कलाकारों तथा अध्यापकों का है? पर क्या खुद इन लोगों का दृष्टिकोण ठीक है? क्या वे अपने कर्त्तव्य का अनुभव करते हैं? राजनैतिक नेताओं तथा सरकार को हम इस समय नहीं ले रहे, क्योंकि हमारे देश में यह मनोवृत्ति घर करती जा रही है कि हर काम पालिटिकस लीडरों तथा सरकार पर छोड़ देना चाहिए। हम लोग इस बात को भूल गए हैं कि ये लोग तो हमारे गुण-दोषों की छाया मात्र हैं। ये लोग हमारे घर के चौकीदार हैं, पर घर का काम तो हमें स्वयं ही करना है। वह दिन हमारे लिए निस्सन्देह घोर दुर्भाग्य का होगा जब कि हम अपने भाग्य-निर्माण के महत्त्वपूर्ण कार्य अल्पसंख्यक बहुधंधी व्यक्तियों के कन्धों पर डालकर अपने को जिम्मेवारियों से मुक्त समझेंगे।

इसमें सन्देह नहीं कि आगे चलकर सरकार से भी मदद लेनी पड़ेगी, क्योंकि सारी सत्ता सरकार के हाथ में केन्द्रित होती जाती है, पर प्रेरक शक्ति तो हमारे हाथ में ही रहनी चाहिए। यदि हम प्रबल जनमत का निर्माण कर लें, तो सरकार तो मजबूर होकर हमारे निश्चयों पर मुहर ही लगा सकती है। पोस्टकार्ड और लिफाफे लिखने का काम हमारा है, मुहर लगाकर उन्हें यथास्थान भेजने का काम सरकार का। संस्कृति के क्षेत्र में भी हमें ऐसा ही समझ लेना चाहिए।

यदि हम लोग—लेखक, कवि, कलाकार और पत्रकार—ही पथ-भ्रष्ट हो गए हों और लोक-कल्याण के बजाय अर्थ अथवा पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य बन गया हो तो भले ही हम सरकार को लाख गाली सुनाते रहें, उससे कुछ होने जाने का नहीं।

जन-साधारण का मन कैसे सुसंस्कृत हो? इस प्रश्न पर सामूहिक रूप से विचार करना है। हमारे मार्ग में कौन-कौन-सी बाधाएं हैं और वे कैसे दूर हो सकती हैं? यह प्रश्न भी विचारणीय है। यदि कोई सुयोग्य लेखक परिश्रम के साथ एक अच्छा ग्रन्थ तैयार कर भी ले तो उसे सर्वसाधारण तक पहुंचाने में काफी समय लगेगा और इस बीच सिनेमा का कोई आदर्शहीन व्यवसायी किसी गन्दी फिल्म द्वारा आसानी के साथ जनता में कुसंस्कार फैला देगा। इस प्रकार के अनाचारों को रोकने का खण्डनात्मक कार्य भी रचनात्मक काम के साथ-साथ ही होता रहना चाहिए।

पर अभी तो हमें डाक्टरों का ही इलाज करना है—खुद शिक्षकों को ही शिक्षित बनाना है। निस्सन्देह यहां हमारी सरकारें कुछ मदद कर सकती हैं। बूढ़े तोते तो राम राम पढ़ने से रहे, पर नवीन उत्साही लेखकों के लिए तो पत्रकार-विद्यालय कायम किए जा सकते हैं।

इन विद्यालयों का संचालन यदि प्रतिष्ठित सम्पादकों के हाथ में हो, तो आगे चलकर उनके स्नातक जन-साधारण की कुछ सेवा कर सकते हैं।

दूसरा काम हमें यह करना है कि देश भर के भिन्न-भिन्न जनपदों में इसका सर्वेक्षण किया जाए कि जनता आखिर क्या पढ़ती है? हाटों, मेलों तथा उत्सवों पर किस तरह की किताबें बिकती हैं? यदि जनता किस्सा-साढ़े तीन यार, छबीली भटियारिन, कटे मूंड की दो दो बातें तथा सारंगा सदावृक्ष पढ़ रही है तो फिर उसकी रुचि में परिवर्तन लाना कोई आसान काम नहीं। इस आखिरी किताब सारंगा सदावृक्ष ने फिजी द्वीप में गजब ढा दिया था और उसकी वजह से कई कत्ल हुए थे और कितने ही आदमी जेल भी गए थे।

'एक रात में चालीस खून' पढ़ने वाले को गीता के अठारह अध्याय कैसे पढ़ाए जाएं? यहां हमें सहर्ष यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि गोरखपुर के गीताप्रेस ने कुछ अंशों तक यह करिश्मा कर दिखाया है और उसकी किताबें हाटों और मेलों में बिकने लगी हैं। पर गीता प्रेस की सीमाएं हैं। उससे किसी क्रान्तिकारी सामाजिक कार्यक्रम की उम्मेद न करनी चाहिए। वह काम तो अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ जैसी संस्था का है और उसने इसे प्रारम्भ भी कर दिया है। क्या ही अच्छा हो, यदि उक्त संस्था की शाखाएं प्रत्येक नगर में स्थापित हो जाएं।

हमारा यह भी कर्त्तव्य है कि छोटी-छोटी गोष्ठियों में इस सांस्कृतिक प्रश्न पर विचार करें और अपने निर्णय समानशील व्यक्तियों तथा सर्वसाधारण तक पहुंचा दें।

संक्षेप में हमारे सामने ये प्रश्न हैं :—

(एक) इस समय जन-साधारण का मानसिक तथा सांस्कृतिक धरातल क्या है?

(दो) जनता क्या पढ़ती है?

(तीन) रेडियो तथा सिनेमा से सर्वसाधारण के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(चार) पत्र पत्रिकाओं की कहानियां तथा चित्र उस पर क्या असर डालते हैं?

(पांच) जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता के उन्मूलन के के लिए हमें क्या-क्या करना चाहिए?

(छः) काहिली को दूर करने तथा श्रम की प्रतिष्ठा स्थापित करने के उपाय क्या-क्या हैं?

(सात) मानव-मानव में समानता का भाव कैसे स्थापित किया जाय?

(आठ) शोषण विहीन समाज की स्थापना कैसे हो?

और अन्तिम लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि साधारण जनता में विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रचार कैसे हो? आवश्यकता है दृढ़ प्रतिज्ञ विचारकों तथा प्रचारकों की। यदि अभी से यह काम शुरू किया गया, तो दो पीढ़ियों में वह पूरा हो सकेगा।

—बनारसीदास चतुर्वेदी
(हिन्दी में मौलिक)

---

compiled and created by Bhartesh Mishra

: दो :

संस्कृति शब्द कितनी ही जटिल बातों और अर्थों का द्योतक है। हम जीवन के सोलह संस्कारों को जानते हैं। इन संस्कारों से युक्त व्यक्ति संस्कृत कहलाता है, और संस्कृत-रूप युक्त तत्त्व है संस्कृति।

हम यह भी कहते हैं कि ये बात हमारे संस्कार में है। अथवा उसके संस्कार ही ऐसे हैं, कोई क्या करे। इन्हीं संस्कारों की परिणति किसी रूप में जब एक स्थायित्व प्राप्त कर लेती है तो वह भी संस्कृति कही जाती है।

उधर एक शब्द संस्कार-संस्कृत-संस्कृति से और आगे "सांस्कृतिक" बनकर प्रयोग में आता है। सांस्कृतिक कार्यक्रमों में हमें बहुधा नृत्य-गीत आदि देखने को मिलते हैं। इसमें भी संस्कार का अर्थ तो विद्यमान है—ऐसी कलाएं जो हमारे विविध कलात्मक संस्कारों से उत्पन्न होती हैं, या जो हमारी ऐसी प्रवृत्तियों का और आगे संस्कार करती हैं—वे भी 'सांस्कृतिक' कही जाती हैं।

पुरातत्वविद् प्राचीन ऐतिहासिक शोध में प्राप्त सभी वस्तुओं और प्रसाधनों तथा उपादानों में संस्कृति के तात्कालिक रूप को अवगत करते हैं। मिट्टी के खिलौने, आभूषण, पूजा-पाठ की वस्तुएं, मन्दिर तथा भवन-निर्माण के रूप-रंग, दीवालों-पत्थरों पर खिंची रेखाएं, अन्न-वस्त्रों के अंश, सिक्के, आदि-आदि सभी पदार्थ, जो उन्हें किसी प्राचीन ऐतिहासिक खुदाई में प्राप्त होते हैं, उनके लिए संस्कृति-निरूपण के माध्यम बन जाते हैं। स्पष्ट है कि वे यह मानते हैं कि उन सब में संस्कृति की छाप या तत्त्व विद्यमान हैं। उनके आधार पर वे उनके निर्माताओं के मनोजगत् को प्रतिफलित देखते हैं, और उनके उन विश्वासों का उद्घाटन करते हैं जिन्हें वे तात्कालीन संस्कृति का अंग मानते हैं।

प्रत्येक प्रकार का उत्पादन, प्रजनन, धर्म, अर्थोपार्जन के साधन और विधियों, जादू-टोने, तंत्र-मंत्र-जंत्र, जीवनचर्या के प्रसाधन, विलास-वस्तुएं तथा प्रणालियां, कला-कौशल—सभी का सम्बन्ध संस्कृति से है। फलतः (एक) संस्कृति मानव की जीवनचर्या की प्रणालियों, उसके साधनों और व्यवहारों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है, (दो) यह भी स्पष्ट है कि वह एक विशेषकाल या विशेष समूह में सामान्यतः सर्वत्र मान्य होती है। वह मात्र किसी एक व्यक्ति की अर्चना-अर्जना या प्रतिभा से सम्बन्धित नहीं होती। (तीन) यह भी प्रतीत होता है कि संस्कृति समाज में इस प्रकार व्याप्त होकर एक परंपरा भी स्थापित करती है, क्योंकि कारणतः भी यही सिद्ध होगा कि सामान्यतः समस्त समाज में एक जीवन-प्रणाली के रूप में ग्राह्य होने के लिए यह अपेक्षित है कि वह (संस्कृति) अपनी परंपरा बनाए। निश्चय ही संस्कृति किसी मानव-समाज की दीर्घ साधना की पदार्थ-माध्यम से स्थूल परिणति है, जो एक प्रकार से समाजगत मानव की द्वितीय प्रकृति का स्थान ग्रहण कर लेती है और परम्परा के पत्ते उस पर जमे चले जाते हैं। मानव के विकास की सीढ़ियां इन पर्तों में निहित रहती हैं। सभ्यता के विकास में ये ऐतिहासिक परंपराओं के अवशेष अपना अस्तित्व तो बनाए रखते हैं, पर अपना अर्थ खोने लगते हैं। जैसा मानव-विज्ञान के अन्य तत्त्वों के साथ होता है, संस्कृति के अवशेषी तत्व अपना अर्थ भी बदलने लगते हैं। दूसरे अर्थ को ग्रहण करते-करते तदनुरूप कुछ रूप भी बदलने लगते हैं। इस मानव-विकास में संस्कृति दो प्रवृत्तियों से युक्त होकर चलती है : पहली, मूल परंपरा के मर्म को सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति। दूसरी, परंपरा में संशोधन-संवर्द्धन की प्रवृत्ति। ये दोनों ही परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां प्रतीत होती हैं। पर लोक में हमें समन्वय की एक विशेष प्रक्रिया दिखाई पड़ती है। उस प्रक्रिया का अभी तक पूरी तरह विश्लेषण तो नहीं हो सका है, पर यह सुनिश्चित है कि गरम और ठण्डे बिजली के तारों के साथ-साथ चलते रहने पर वे जब कभी एक-दूसरे का नंगा स्पर्श कर लेते हैं, तो एक चिनगारी या प्रकाश में परिणत हो जाते हैं, संस्कृति के उन तारों में एक प्रकार से विविध परंपराओं के मर्म की विद्युत् प्रवाहित है, और वे कभी परस्पर टकरा गए तो वह विद्युत-प्रवाह प्रकाश रूपी एक नए परिणाम के रूप में रूपान्तरित हो जाता है। पर सांस्कृतिक तत्त्वों की विशेषता यह है कि प्रत्येक धारा अपने-अपने मर्म को उस नवीन अन्विति में भी पूर्णतः लुप्त नहीं होने देती।

हमारी आज की भारतीय संस्कृति का इतिहास ऐसे उदाहरणों से परिपूर्ण है। हमारी संस्कृति के आधुनिक जटिल तत्त्व ऐसी शतशः धाराओं और परंपराओं के गुम्फन का परिणाम है। बंगाल में एक व्याघ्र देवता 'दक्षिणराय' की धर्म-कथा (मिथ) में दो धाराओं के संघर्ष और समन्वय का अद्भुत वृत्त मिलता है। दक्षिणराय का एक भक्त एक ऐसे स्थान पर पहुंचा जहां उसने देखा कि एक तो बड़े (गाजी) मियां की समाधि बनी हुई है, और उसके पास ही दक्षिणराय का सिर स्थापित है। लोग दोनों की पूजा करते हैं। पूछने पर उन्हें विदित हुआ कि इस भूमि पर अधिकार के संबंध में बड़े मियां और 'दक्षिणराय' में भयानक संघर्ष छिड़ा। ऐसा भीषण युद्ध हुआ दोनों में कि बस प्रलय ही हो चली थी। तभी भगवान प्रकट हुए। ये भगवान आधे रूप में मुहम्मद थे और आधे रूप में मोर पंख धारी कृष्ण। उन्होंने युद्ध रोका, और कहा अब से बड़े मियां की समाधि के साथ दक्षिणराय के सिर की स्थापना इस क्षेत्र में हुआ करेगी और लोग दोनों की पूजा करेंगे। इस वृत्त में दो धाराओं का संघर्ष भी है और उनके समन्वय की प्रक्रिया भी। गुजरात से राजस्थान तक जिस जाहरपीर या गोगाजी की पूजा होती है उसमें यक्ष, नाग, सिद्ध, नाथ, राजपूत वीर-पूजा तथा मुसलमानी पंचपीर परंपरा का एक अच्छा समीकरण मिलता है। जादू के मंत्रों में इसी प्रकार मुहम्मद, हनुमान, पीर और गोरखनाथ आदि साथ-साथ आते हैं। अनेकों बौद्ध देवी-देवताओं ने मूल प्रेरणा से विछिन्न होकर हिन्दू खोल अपने ऊपर चढ़ा रखा है। धामी संप्रदाय में, सहजिया सम्प्रदाय में तथा ऐसे ही अनेकों संप्रदायों में स्पष्टतः और कुछ में अप्रत्यक्षतः ऐसे सांस्कृतिक समीकरण मिल जाते हैं।

यही दशा उन कलाओं की भी है जिनमें व्यक्ति-प्रतिभा को प्रधानता दी जाती है। हमें प्रतीत यह होता है कि कोई कला-वैशिष्ट्य जो उक्त प्रतिभाशाली कवि या चित्रकार की देन है, यह वस्तुतः उसके व्यक्तित्व का प्रतिफलन है। बड़ी-बड़ी अद्भुत

compiled and created by Bhartesh Mishra

अनोखी सूझें उदाहरण रूप में हमारे सामने आती हैं, और हम चमत्कृत होकर उन सूझों के लिए उस कलाकार को श्रद्धापूर्वक नमन करते हैं ।

अभी कुछ दशाब्दियों पूर्व कलाकार की प्रतिभा की इन भव्य देनों को एक मनोविश्लेषण शास्त्री ने कुण्ठा का परिणाम बताया था, इस प्रकार जो कलाकृति आज से पहले प्रतिभा का प्रसाद समझी जाकर पूजित थी, आज उसी के चमत्कार में हमें मानव के कुण्ठित मन के नृत्य दिखाई पड़ते हैं। "सब्लिमेशन" या भव्यता की प्रक्रिया से कीचड़ ही कमल में परिवर्तित दिखाई पड़ती है। पर यह व्यक्ति-निष्ठ मनोविश्लेषण है। लोक-मानसिकता का अस्तित्व भी आज स्वीकार किया जाता है, यह भी मानव के अचेतन मानस का सम्भवतः दाय में प्राप्त रूप से निचला और सबसे पहला स्तर है। इसकी प्रक्रिया हमें इतिहास और पुरातत्व के तथा धर्मगाथाओं के पुरातन से पुरातन और अधुनातन से अधुनातन कृतित्व में होती मिल जाती है। इसके परिणाम-स्वरूप ही संस्कृति की धाराओं का मर्म सुरक्षित रहता है। वह मर्म नए-नए आवरण तथा नए-नए तत्त्वों से अभिमंडित होता जाता है। यह प्रतिस्थानापन्नता (सबस्टीट्यूशन) की प्रक्रिया संस्कृति के सभी क्षेत्रों में कार्य करती है, यह मर्म के रूप में प्रायः नामान्तर किया करती है। एक उदाहरण लें—

"एक सिद्ध पुरुष (क) एक व्यक्ति (ख) के घर अतिथि हुए। अतिथि ने भोजन (ग) के लिए उस व्यक्ति के पुत्र (च) के मांस की मांग की। आतिथेय ने पुत्र (छ) को मारकर भोजन तैयार किया। उस मांस-भोजन (च) को खाते क्षण सिद्ध पुरुष ने उस पुत्र को आवाज दी। धूल धूसरित वह पुत्र आ खड़ा हुआ (छ)।"

इस कथा के उस मूल स्थपित (आर्च टाइप) में क्या-क्या रूपान्तर या प्रतिस्थानापन्नताएं हुई हैं। इन्हें यों समझा जा सकता है :—

हिन्दू कथा	सिख-पुराण कथा	धर्म ठाकुर संप्रदाय (बंगाल का)
(क) भगवान कृष्ण साधुवेश में।	(क) गुरुनानक	(क) धर्म ठाकुर (ब्राह्मण रूप में)
(ख) राजा मोरध्वज	(ख) राजा सिंहलद्वीप	(ख) राजा हरिश्चन्द्र
(ग) कृष्ण ने अपने साथी सिंह के लिए भोजन मांगा	(ग) अपने लिए	(ग) ब्राह्मण ने अपने लिए भोजन मांगा
(घ) पुत्र का कच्चा मांस (सिंह के लिए)	(घ) पुत्र का मांस रांधा हुआ	(घ) पुत्र का मांस रांधा हुआ
(ङ) राजा रानी दोनों ने आरे से पुत्र को चीरकर सिंह को भोजन दिया (प्रसन्नतापूर्वक)	(ङ) रानी अपने हाथों से काट कर पुत्र को रांधती है (प्रसन्नतापूर्वक)	(ङ) रानी पुत्र का मांस बनाती है
(च) (छ) वही	(च) (छ) वही	(च) (छ) वही
उद्देश्य—परीक्षार्थ : (अर्जुन को संदेह कि उस जैसा भक्त दूसरा नहीं)	भक्ति की गरिमा की परीक्षा के अर्थ	वचन भंग की पूर्ति में (धर्म) ठाकुर ने राजा रानी को पुत्र का वर दिया इस शर्त पर कि वे उसकी बलि उसे चढ़ा देंगे। राजा वचन भूल गया। अतः धर्म ठाकुर आए और पुत्र की बलि इस रूप में ली।

इन तीनों रूपों में तीन धर्मों ने एक ही कथा को नाम बदल कर ग्रहण कर लिया है। पर अप्रत्यक्ष रूपेण धर्मठाकुर कथा में वैदिक-पुराण कथा के हरिश्चन्द्र नाम से ही नहीं वरन् मर्म से भी विद्यमान हैं। धर्मठाकुर वरुण के रूपान्तर हैं। पुत्र रोहित या रोहिताश्व है। अंतिम अभिप्रायों में परिवर्तन स्पष्टतः अन्य प्रभावों के आगम के द्योतक हैं ।

कथा में ये तत्त्व स्पष्ट दीखते हैं, तत्वविद् ऐसी ही प्रतिस्थानापन्नताएं संशोधन तथा संवर्द्धन किसी भी कला में देख सकते हैं। यही प्रक्रिया समस्त कला कृतियों में देखी जा सकती है। इस प्रक्रिया से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक कला कृति में संस्कृति की दाय प्राप्त मानसिकता (इनहैरिटेड साइके) इन दोनों रूपों में व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत की जाती है। "परंपरा का मर्म—परिवर्तित नाम-स्थान-पात्र—कुछ लोप-कुछ आगम उद्देश्य विभिन्नता"; यह कुछ उस प्रक्रिया का रूप है जो किसी भी सांस्कृतिक कला-कृति के विकास में कार्य करती रहती है। यह भी स्पष्ट है कि यह समस्त प्रक्रिया कला के अभिप्राय-निबंधन अथवा स्थूल उपादानों में होती है : कला-कृतियों में स्थूल-उपादानों अथवा मोटिफ्रों (अभिप्रायों) के ग्रथन के अतिरिक्त दो आवरण और होते हैं। एक आवरण बौद्धिक वस्तु का होता है, दूसरा सौन्दर्यानुभूति का होता है। इन दोनों का योगदान व्यक्ति-विशेष की प्रतिभा से होता है, पर वह प्रतिभा क्या है ? उस प्रतिभा की प्रेरणा का स्रोत प्रकृति-पुरुष (जड़-चेतन) की वह रसायन होती है जो उस काल में जन-साधारण में पकती प्रतीत होती है।

"जनसाधारण" का विश्लेषण यह सिद्ध करता है वह असंख्य मानवों का ऐसा समूह है :—

(एक) जो उच्चतम प्रतिभावान् व्यक्ति से लेकर बुद्धिहीन जन तक की रसायन को वहन करता है;

(दो) जो अनुदार से अनुदार प्रतिक्रियावादी व्यक्ति से लेकर-परंपरा की जड़ता से चिपके व्यक्ति से लेकर-घोर उदार और प्रगतिशील व्यक्ति का समीकरण होता है। इससे ही ऐतिहासिक अवशेष जनसाधारण में सुरक्षित रहते हैं; और

compiled and created by Bhartesh Mishra

(तीन) जो इसके साथ ही समुद्र की भांति होता है, जिसमें निरंतर तरंगें उठती-गिरती रहती हैं और एक दूसरे में मिल-जुल कर स्पंदित होती रहती हैं—और देश-काल पर फैलती हैं।

स्पष्ट है कि यह जन-साधारण इन तीनों प्रकृतियों के कारण एक ऐसो रसायन पैदा करता है जिसमें वह शक्ति रहती है जो कला और प्रतिभा के लिए सामग्री भी जुटाती है, प्रेरणा भी प्रदान करती है, और उसको उच्चतर उत्थान के लिए स्तर प्रदान करती है तथा अवकाश का सहारा भी देती है।

यहां हमारे पास अभी इतना स्थान नहीं कि कलाओं और प्रतिभाओं के उदाहरण लेकर उनके विश्लेषण में यह दिखा सकें कि उनमें यह जन-साधारण की तात्त्विकता किस प्रकार उन तत्त्वों को उभार सकी जो उनकी ही विशिष्ट देन माने जाते हैं। पर यह सत्य है कि उस समस्त विशिष्टता का प्रत्येक तन्तु जन-साधारण की उक्त रसायन का ही परिणाम है। जिस प्रकार किसी भी वृक्ष की उच्चतम उठान तथा उसके निजी स्वाद से युक्त फल भूमि, बीज और वातावरण का ही परिणाम है, उसी प्रकार उच्चतम कलाकृतियां भी जन-साधारण के उक्त तीन तत्त्वों की रसायन का परिणाम हैं। फलतः संस्कृति का रूप जनसाधारण से उद्रेकित ऐसे ही व्यक्तित्व में निर्मित होता है, और किसी युग के वे निर्माण के उच्च शिखर आगे चलकर जनसाधारण की सामान्य भूमि बन जाते हैं, उस पर से पुनः नए व्यक्तियों में नए निर्माण के शिखर खड़े हो जाते हैं। यही प्रक्रिया संस्कृति में निरंतर विद्यमान रहती है, और संस्कृतियां अपनी समस्त जड़ता के साथ निरंतर चेतनावान् गति से भी युक्त होकर विकास करती चलती हैं।

—सत्येन्द्र (डा०)
(हिन्दी में मौलिक)

: तीन :

'जनसाधारण' का क्या अर्थ है? उसकी परिभाषा करना या उसके स्वरूप का ठीक-ठीक भावन करना बड़ा कठिन काम है। ऐसे प्राणी के बारे में, जिसका स्वरूप ही स्पष्ट नहीं, कुछ कहा भी जाए तो वह निश्चय ही सन्दिग्ध होगा और उसके ग़लत होने की ही सम्भावना अधिक हो सकती है। इसलिए मैं अपने आपको 'जनसाधारण' की उसी अवधारणा तक सीमित रखूंगा जिसकी अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट परिभाषा हो सकती है—मैं ऐसे व्यक्ति को 'जन साधारण' में गिनूंगा जिसने औपचारिक शिक्षा न पाई हो। 'संस्कृति' से हम मोटे तौर पर जो कुछ समझते हैं उसके बहुत कुछ तत्व ऐसे व्यक्ति में हो सकते हैं और होते हैं—भले ही वह अपने जीवन के उस तत्व का एक 'अलग वस्तु' के रूप में अंकन न करता हो।

और यहां 'संस्कृति' शब्द की भी एक परिसीमा निश्चित कर देना जरूरी है। तभी हम आगे बढ़ सकते हैं और एक-दूसरे को समझ सकते हैं। कम से कम दो अवधारणाएं तो ऐसी हैं ही, जो इस शब्द के द्वारा ग्रहण की जाती हैं और उनमें एक का दूसरी से सहज ही भेद किया जा सकता है। एक अर्थ में तो उसे मानव के किसी वर्ग-विशेष के रूपों और आदतों का समुच्चय-सा समझिए: इसी अर्थ में हम 'किसान-संस्कृति', 'पाषाण-युगीन संस्कृति', 'कांस्ययुग की संस्कृति', 'डैन्यूब की चषक-संस्कृति' अथवा 'निडरथल मानव की संस्कृति' की चर्चा करते हैं। हम कह सकते हैं कि 'संस्कृति' का यह अर्थ बड़ा व्यापक है और संसार में मानव के प्रत्येक वर्ग की एक संस्कृति होती है।

'संस्कृति' शब्द का एक अर्थ और भी है। वह भी उतना ही प्रचलित है। इस अर्थ में वह जीवन में उच्चतर तत्वों के उत्कर्ष की द्योतक है; उसमें वे परिष्कार निहित हैं जो हमारे जड़ अस्तित्व का उन्नयन कर, एक अतिरिक्त आह्लाद प्रदान करके उसे समृद्धतर बनाती हैं, जो दैनन्दिन जीवन के पार्थिव बन्धनों से ऊपर उठाकर जीवन को गहरी अर्थवत्ता प्रदान करती हैं—उसका सम्बन्ध उन वस्तुओं से है जो हमारे रागात्मक जीवन एवं बुद्धि को प्रभावित करती हैं।

यदि 'संस्कृति' का यह दूसरा अर्थ लें, तो हम सहज ही देख सकते हैं कि वर्ग-रूप में भारत का साधारण आदमी (यानी ऐसा आदमी जिसने औपचारिक शिक्षा नहीं पाई है) उसे एक 'अलग वस्तु' नहीं मानता बल्कि जिस संस्कृति के प्रति उसके मन में मोह होता है, वह अधिकांशतः उसके जीवन का अंग होती है—जितना हम आमतौर पर समझते या मानते हैं, उससे कहीं अधिक।

मैं समझता हूं कि यह बात एकदम स्पष्ट है कि उसके जीवन में—दैनिक जीवन तक में—कुछ चीजें ऐसी होती हैं जिन्हें वह अपनी उन्नति अपने भावात्मक और बौद्धिक अस्तित्व के लिए बहुमूल्य मानता है। और निश्चय ही उनमें सबसे पहली और सबसे अनमोल चीज है धर्म। वह उसके लिए जीवन की उच्चतर वस्तुओं में एक महत्त्वपूर्ण तत्व है, उससे उन्नयन और भावात्मक परितोष की भावना पैदा होती है। धर्म संस्कृति का वह रूप है जो उसे जड़ अस्तित्व के धरातल से ऊपर उठा लेता है, जो उसके भौतिक दैनन्दिन जीवन को एक प्रकार की गरिमा, शालीनता एवं गम्भीरता से भर देता है। वह उसे कुछ-कुछ ऐसा आह्लाद प्रदान करता है जो अधिक शिक्षित, अधिक संवेदनशील और अधिक संस्कृति-सजग लोगों को संस्कृति की ऐसी अभिव्यक्तियों में मिलता है जैसे कला।

धर्म के प्रति यह प्रवृत्ति समाज के नीचे से नीचे स्तरों में परिव्याप्त है। मैं ऐसे ग्रामीणों को जानता हूं जिनके निकट पूजा का और पर्वों के मनाये जाने का बड़ा महत्त्व होता है, उनसे उन लोगों के जीवन में मानो एक अतिरिक्त सार्थकता आ जाती है वे उनके लिए ऐसे आध्यात्मिक पोषण का स्रोत होते हैं जिनकी उन्हें आवश्यकता होती है और जिसकी वे कामना करते हैं। इन सांस्कृतिक पर्वों में अक्सर रामायण को केन्द्र मानकर कही जाने वाली कथाएं भी होती हैं और ये अवसर उन लाखों करोड़ों भारतीयों के जीवन के अनमोल साहित्यिक-सांस्कृतिक अवसर होते हैं जिन्हें बौद्धिक विभूति का वैसा वरदान न मिला हो।

किन्तु कला का एक और रूप भी ऐसा है जो समाज के नीचे से नीचे स्तरों तक पहुंचता है और जनसाधारण के भावात्मक-बौद्धिक जीवन का स्पर्श करता है। वह रूप है संगीत—जो

compiled and created by Bhartesh Mishra

असीम आह्लाद का स्रोत है और प्रायः प्रचुर आत्माभिव्यंजन का। जनसाधारण का यह संगीत हमेशा तो नहीं पर बहुधा नृत्य-समन्वित रहता है। उसका रूप चाहे कुछ हो—समवेत गान का, भजन-कीर्तन का या पंजाब आदि प्रदेशों में प्रचलित प्रेम-गीतों का—वह सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का एक सजीव माध्यम होता है। देश के विभिन्न राज्यों में गीतों के अनेक रूप ऐसे हैं जो आज तक संगीत शास्त्रियों की नजरों से ओझल रहे हैं। उन्हें सजीव संस्कृति के रूप न मानना ग़लत होगा और साथ ही मूर्खतापूर्ण भी।

नृत्य और नाटक भी संगीत से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध हैं। उनका भी बड़ा प्रचार है। अब तक उन पर जितना अनुसन्धान हुआ है उससे कहीं अधिक अपेक्षित है—परन्तु यहां तक भी कह दिया जाये कि इस प्रकार के अध्ययन की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास आरम्भ हो गये हैं।

संस्कृति के अहंकार में भरा हुआ शहर का आदमी जितना समझता है, नाट्य-संस्कृति उससे कहीं अधिक व्यापक है। उड़ीसा के इधर के सर्वेक्षण से पता चला है कि वहां नाट्य-कला के कुछ ऐसे रूप प्रचलित हैं जिनके बारे में हम जानते तक नहीं, जिन पर कोई खोज नहीं हुई, परन्तु लाखों लोगों को वे प्रिय हैं, वे उनसे अपने जीवन को सरस बनाते हैं। यह जो व्यापक सांस्कृतिक क्रिया-कलाप है, रामलीला का उत्सव तो उसका एक अंशमात्र है—इसमें मनोरंजन और उन्नयन की ऐसी अभिव्यक्तियां भी शामिल की जानी चाहिएं, जैसे यक्षगान, कुचीपुडी, ओडिसी, मेलतुर भगत्तर तथा उत्तर प्रदेश के पार्वत्य क्षेत्रों में नाटकीय तत्त्वों से समन्वित गान-नृत्य समारोह। 'यात्रा' का तो परिगणन इसमें है ही—उसका उल्लेख क्या किया जाये। इनके अतिरिक्त राजस्थान के कठपुतलियों के तमाशे से लेकर दक्षिण भारत के 'बोम्पलतम्' तक सांस्कृतिक क्रिया-कलापों के ऐसे अनेक रूप हैं जिनका जनसाधारण के बौद्धिक एवं भावात्मक जीवन से गहरा सम्बन्ध है। ये साहित्य के रूप भी हैं और नाटक के भी। और इनका सांस्कृतिक महत्त्व कम नहीं समझा जा सकता।

प्रायः इन सभी रूपों में निःसन्देह पश्चिम का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। इसका श्रेय कुछ हद तक तो फिल्मों को है। जीवन के नये-नये रूपों का दिग्दर्शन कराके आकांक्षा-पूर्ति और उत्तेजना के तत्त्वों को बड़े आकर्षक ढंग से हमारे सामने पेश किया जाता है (यथा, पश्चिमी लिबास पहने हुई और सिगरेट पीती हुई महिलाएं। आधुनिकता के रंग में रंगे नाच, पश्चिम की नकल में डूबा हुआ संगीत आदि)। दूसरा कारण यह है कि जीवन के प्रत्येक स्तर पर आधुनिकता धीरे-धीरे कस्बों और गांवों के जीवन में पैठती जा रही है। गांव में जब पहली बस और बिजली का पहला बल्ब पहुंचता है तो मानों परम्परागत जीवन रूपों पर आधुनिकता का आक्रमण शुरू हो जाता है—और कला भावों की सबसे अधिक संवेदनात्मक अभिव्यक्तियों में से है, अतः नूतनता के प्रति आवेश की उस पर तुरन्त प्रतिक्रिया होती है। मैंने उड़ीसा के जंगल में यातायात के मुख्य रास्ते से एकदम दूर एक ग्राम-मन्दिर में बिजली के तार और चमकदार बल्ब लगे देखे हैं, और एक शिवालय के उपासनाकक्ष के द्वार के निकट मैंने एक आधुनिक जापानी घंटा लगा देखा है। ऐसी परिस्थितियों में यह अनिवार्य है कि परम्परागत कलारूपों पर आधुनिकता के आघात हों। ये आघात उन्नीसवीं शताब्दी में शुरू हो गये थे, जब गांवों में धर्मयाजकों का छोटा हाथ हारमोनियम अपनाया गया था।

हम पढ़े-लिखे लोगों के बीच संस्कृति के जो रूप विद्यमान हैं, प्रायः ये सभी अल्पशिक्षित जनसाधारण में भी होते हैं। मैं समझता हूं उनके यहां सब से बड़ी कमी कला के आकृतिपरक रूपों के क्षेत्र में है—वास्तु-कला और चित्र-कला में। कुछ क्षेत्रों में—जैसे उड़ीसा में, जिससे मेरा घनिष्ट परिचय है—लोक-चित्रकारी और लोक-वास्तु के कुछ रूप अब भी जीवित हैं पर खेद है कि वे बड़ी तेजी से लुप्त होते जा रहे हैं। पुरानी बारीक पत्ता चित्रकारी की जगह भावुकतापूर्ण तैलांकन ने ले ली है—दक्षिण में भी तथा अन्य राज्यों में भी। वास्तु-कला का प्रायः एकमात्र जीवित रूप आज मन्दिरों पर रथों को उत्कीर्ण करने का रह गया है। मुझे इसमें सन्देह है कि आकृति-कला के ऐसे रूपों का जनसाधारण के मन पर कोई गहरा भावात्मक प्रभाव पड़ता है। चित्रकारी का शायद एकमात्र जीवित रूप कहीं-कहीं गांवों में झोंपड़ियों की दीवारें सजाने के लिए बनाये जाने वाले चित्रों में दिखाई पड़ता है।

भारत में जिन लोगों ने औपचारिक शिक्षा कम पाई है उनमें उपलब्ध सजीव संस्कृति के कुछ पहलुओं का बहुत संक्षिप्त विवेचन हो यहां प्रस्तुत किया गया है। इस विवेचन में ही इस सवाल का जवाब भी आ जाता है कि उनमें संस्कृति के प्रति जागरूकता पैदा करने की आवश्यकता है या नहीं। मुझे तो लगता है कि अल्पशिक्षितों में संस्कृति की इन अभिव्यंजनाओं—धर्म, संगीत, नृत्य, नाटक आदि—के प्रति पर्याप्त प्रेम मौजूद है, इनसे जीवित आह्लाद के द्वारा उनका जीवन समृद्ध बनता है। जरूरत केवल इस बात की है कि जिन चीजों को वे जीवन में पहले ही बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं उनके प्रति उनके मन में उत्साह जगाया जाये। इस प्रकार की सहायता के कई रूप हो सकते हैं—जैसे खुले रंगमंचों की स्थापना जो नाटकों, नाच और संगीत-कार्यक्रमों के लिए उपयुक्त हों, अच्छी चलती-फिरती कम्पनियों को आर्थिक सहायता आदि। मैं समझता हूं इन परम्परागत संस्कृति रूपों पर पश्चिम का और नगरों का प्रभाव पड़ना एकदम अनिवार्य है—और संक्रान्ति के इस विषम युग को पार करने में जनसाधारण की सहायता करने का एक ही तरीका है कि उसे उसके अपने, पुराने संस्कृति रूपों का आदर करने की प्रेरणा दी जाये।

—चार्ल्स फाबरी

(रूपान्तर : महेन्द्र चतुर्वेदी)

: चार :

'संस्कृति और जनसाधारण'—इन शब्दों का उच्चारण करते ही एक व्यंग्य चित्र-सा आंखों के सामने उभर आता है : ट्वीड का जैकेट पहने और पाइप मुंह में लगाये हुए एक अंग्रेज या किसी और देश का उसी जैसा कोई आदमी मानो कुछ आवेश

compiled and created by Bhartesh Mishra

में भरकर कह रहा हो—"मैं कला के बारे में कुछ ज्यादा नहीं जानता पर यह मैं जानता हूं कि मुझे क्या पसन्द है।"

संक्षेप में, संस्कृति के प्रति जनसाधारण का यही रुख मालूम पड़ता है। पर इसी बात को किसी भारतीय के सन्दर्भ में सोचिए—यह चित्र अपने आप घुलकर अदृश्य हो जाता है। सबसे पहली बात यह है कि भारत में 'जनसाधारण' के चित्र की रेखाएं अंकित करना ही कठिन काम है। कौन जनसाधारण के अन्तर्गत आयेगा—क्लर्क या कस्बे का छोटा-सा दुकानदार? पांच बच्चों का विपन्न बाप? धनाढ्य स्वार्थी उद्योगपति या वह व्यापारी जिसको धन कमाने के सिवाय और कोई काम ही नहीं? कारखाने का मजदूर—जो अच्छे—वक्त में सिनेमा का सबसे महंगा टिकट खरीद सकता है? या अशिक्षित भूमिहीन खेतिहर या गांव का अध्यापक? या सम्पन्न किसान? या व्यवसायी व्यक्ति? अथवा शहरों में पटरियों पर पड़े रहने वाले और बेरोजगार से लगने वाले सैकड़ों हजारों लोग? जनसाधारण की कोई सामान्य परिभाषा अगर दी जाती है तो वह उसकी धारणा को सरल रूप देने के लिये और यह अक्सर गलत होती है पर भारत में इतने स्तरों पर और इतनी अधिक अनेकरूपता है कि कोई सामान्य परिभाषा निर्धारित कर पाना असम्भव-सा है। इसके अतिरिक्त, उस चित्र में से आवेश का तत्त्व भी गायब हो जायेगा। यहां के हर वर्ग और हर तरह के आदमी के बारे में एक बात को लेकर हम निश्चित हो सकते हैं—ज्ञान के जिन रूपों तक उसकी पहुंच नहीं है उनके प्रति उनके मन में एक गहरा सम्मान होता है और विनम्रता की भावना विद्यमान रहती है। तब शुरू के व्यंग्य-चित्र में क्या बच रहता है? केवल 'संस्कृति' शब्द—परीक्षण करने पर लगता है वह भी तिरोहित हो जायेगा। पर शायद हम सिद्ध कर सकते हैं कि उसमें और शब्दों जितना छलावा नहीं।

हां, प्राचीन सभ्य देश की तरह भारत की भी हमेशा दो संस्कृतियां रही हैं—एक तो असंख्य नर-नारियों की सहज-लोकप्रिय संस्कृति तथा दूसरी ललित कलाओं और उच्चतर ज्ञान में आबद्ध कृत्रिम संस्कृति जिस पर केवल कुछ गिने-चुने लोगों का अधिकार रहा। पहले प्रकार की संस्कृति का हमारे यहां बड़ा समृद्ध एवं विविधतापूर्ण भण्डार है—लोकगीत, नृत्य और नाटक के विविध रूप, परम्परागत कला और शिल्प, पुराण कथाएं, दन्त कथाएं और वार्ताएं, लोकदर्शन, लोकभाषा और लोकविवेक, हमारे रीति-रिवाज और संस्कार सब उसमें अन्तर्हित हैं। लोक-संस्कृति में असंख्य स्थानीय भेद हैं—किन्तु संसार भर की लोक-संस्कृतियों के अनुरूप उसमें कुछ सार्वभौम विशेषताएं भी हैं।

दूसरी संस्कृति कला, साहित्य विज्ञान और संगीत के विशद, अत्यन्त समुन्नत क्लिष्ट रूपों की है—राजा-महाराजाओं, सामन्तों एवं जागीरदारों के—आश्रय में रहकर सैकड़ों वर्षों की साधना के फलस्वरूप साधक कलाकारों ने इनका विकास किया है और इनकी परम्पराओं को जीवित रखा है। शायद यहीं बीसवीं सदी की दुनियां का प्रभाव सबसे अधिक महसूस किया जा सकता है—यह स्पष्ट है कि आज की परिस्थितियों में ये दोनों संस्कृतियां अपने मूलरूप में विद्यमान नहीं रह सकतीं। उद्योगीकरण के आघात से क्या पहली संस्कृति के कालकवलित हो जाने का डर पैदा नहीं हो गया? और क्या यह आशंका नहीं कि दूसरी संस्कृति लोकतंत्र की चपेट में आकर दम तोड़ दे?

पश्चिमी देशों में, उद्योगीकरण, शहरों में बसने की प्रवृत्ति, सार्वजनिक शिक्षा तथा मनोरंजन के सार्वजनिक माध्यम के विकास से पुरानी लोक-संस्कृति का अन्त हो गया है। कहीं-कहीं कुछ क्षेत्रों में उसकी सांस अभी चल रही है। पर वह अपनी दम पर नहीं जी रही, उसे जिलाये रखने का श्रेय 'विलक्षण प्रथाओं, और परम्पराओं के प्रेमियों को है। उस संस्कृति की जगह एक नई लोकप्रिय संस्कृति ने ले ली है जिसकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसकी उद्भावना का श्रेय 'लोक-मत' को नहीं। सामूहिक मनोरंजन के व्यापारी उसे बनाकर, गढ़-संवार कर जनता के हाथ बेच देते हैं। उसके उद्भव के स्रोत हैं—सस्ते पत्र-पत्रिकाएं, सिनेमा, नाचघर, रेडियो, टेलिविजन, जासूसी और साहसिक उपन्यास आदि।

दूसरी ओर इन्हीं देशों में समूचे समाज में एक और प्रवृत्ति रही है—'दूसरी संस्कृति' के बारे में दिलचस्पी लेने की और जानकारी हासिल करने की किसी ज़माने में यह 'दूसरी संस्कृति' कुछ गिने-चुने लोगों की ही सम्पत्ति थी। उदाहरण के लिए, रूस में बैले के दर्शकों की संख्या अपार तो होती ही है, वे प्रबुद्ध और विज्ञ भी होते हैं। प्रायः प्रत्येक पश्चिमी देश में शास्त्रीय संगीत का आनन्द लेने वाले श्रोताओं की संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। इसके विपरीत, ब्रिटेन में रंगमंच दम तोड़ रहा है—टेलीविज़न और सिनेमा से होड़ करने में वह समर्थ नहीं। लगता है 'संस्कृति' के वे ही तत्त्व फल-फूल सकेंगे जिनको राज्य का प्रश्रय भी प्राप्त हो और जनता की प्रशंसा भी। कलाकार केवल उदर-पूर्ति करके नहीं जीता।

प्रश्न है—क्या भारत में भी ऐसा ही हो रहा है? लोक-संस्कृति की विकृति शुरू हो गयी है पर अभी यह प्रक्रिया बहुत आगे नहीं बढ़ी। भारत में ऐसे गांव हैं जहां गलियों में लाउडस्पीकरों पर नयी से नयी फिल्मी धुनों का कोलाहल सुना जा सकता है। नयी पीढ़ी मन्थरगति, नृत्यों, नाटकों और हरिकथाओं से रेडियो और सिनेमा को कहीं ज्यादा पसन्द करती है। जबकि पुरानी पीढ़ी उन्हीं आयोजनों में लम्बी-लम्बी रातें गुजार देती थी। अगर लोक-संस्कृति को बचाने के भगीरथ प्रयत्न न किये गये तो और देशों की तरह यहां भी शिक्षा के प्रसार और गांवों में यान्त्रिक आविष्कारों के प्रचार के साथ-साथ उसका अन्त हो जायेगा। और उसे बचाने का तरीका यह नहीं कि उसके तत्त्वों को संग्रहालय में जोड़कर रखा जाये बल्कि यह है कि जैसे हजारों वर्ष से लोग अपनी संस्कृति का निर्माण करते आये हैं वैसे ही उसका निर्माण करते रहने में उन्हें सहायता दी जाये।

आज जो स्थिति है, उसमें भारत में यह सब हो पा रहा है—यह नहीं लगता। शायद 'समुदाय-केन्द्रों' में यह कार्य सम्पन्न हो।

और दूसरी संस्कृति का—'हमारी गौरवमयी परम्परा'—का क्या होगा? उसके पुराने संरक्षक तो अब रहे नहीं—क्या जनसाधारण उनका स्थान ले पायेगा? दक्षिण भारतीय जीवन में

compiled and created by Bhartesh Mishra

कर्नाटक शास्त्रीय संगीत की स्थिति इसका एक उत्साहवर्द्धक उदाहरण है--उत्तर भारत में शास्त्रीय संगीत की स्थिति उसके बिल्कुल विपरीत है। दक्षिण भारत में शास्त्रीय संगीत-पद्धति अपने पूरे गौरव के साथ प्रतिष्ठित है—पहले से कहीं अधिक जनता के मानस पर उसका राज्य है। पचास वर्ष पहले जितने ही—या शायद उससे भी अधिक—संगीतज्ञ आज अपनी कला की साधना में संलग्न हैं। वे कला की परिशुद्धता की पूरी तरह रक्षा करते हुए उसकी साधना करते हैं—उसके प्रतिष्ठित मानदण्डों से तनिक भी विचलित नहीं होते। इस दिशा में उन्हें गिने-चुने अभिजात पारखियों का नहीं बल्कि सैकड़ों छोटी-छोटी सभा-समितियों का समर्थन प्राप्त होता है—और उनके सदस्य होते हैं उत्साही और प्रबुद्ध श्रोता तथा अव्यवसायी संगीताभ्यासी। दक्षिण भारत में शास्त्रीय संगीत-सभाओं में हज़ारों लोग उपस्थित रहते हैं। यह सच है कि 'आकाशवाणी' जैसी संस्था कलाकारों को सहारा देती है, यह भी सच है कि कुछ कलाकार फिल्मों में गीत गाकर अपनी आय-वृद्धि करते हैं—पर एक बात स्पष्ट है और वह यह कि इस जटिल कला का सितारा जो इतना बुलन्द हुआ है उसके पीछे सब से बड़ी शक्ति है वही हमारा 'जन साधारण'।

'जनसाधारण ज़िन्दाबाद !' मगर लगता है इस 'जन-साधारण' का हमेशा भरोसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि आधुनिक भारत में साहित्य की स्थिति बड़ी दयनीय है। फिर दक्षिण भारत का ही उदाहरण लें—आधुनिक तमिल साहित्य लोकप्रिय साप्ताहिक पत्रिकाओं से इस हद तक अभिभूत है कि जो लिखना चाहते हों और लिखकर ही जीविकोपार्जन करना चाहते हों उन्हें बरबस कहानी या धारावाहिक सस्ते भावुकता-पूर्ण नाटक--इन दो साहित्य-विधाओं में से किसी एक का आश्रय लेना पड़ता है और यह केवल विधा ही तक सीमित नहीं। इससे भी आगे अत्यन्त साधारण और तुच्छ स्थितियों तथा उनका एकदम घिसा-पिटा आयोजन ही स्वीकार्य होता है। लोकप्रिय पत्रिका-साहित्य में ऐसा होना अनिवार्य है—और देशों में इस बात को अच्छी तरह समझ लिया गया है। वहां गम्भीर लेखकों पर इस तरह की पाबन्दियां नहीं लगाई जातीं। किन्तु भारत में हमने अभी खुले तौर पर दो प्रकार के साहित्य की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया है। इसके अतिरिक्त, यहां प्रादेशिक भाषाओं एवं साहित्यों की संख्या भी बहुत है—फलतः प्रत्येक प्रदेश में शिक्षित जनता इतनी नहीं कि लेखक को सहारा दे सके। नतीजा यह हुआ है कि साहित्य को बड़े नीचे धरातल पर खींच लाया गया है।

जनसाधारण की दृष्टि से संस्कृति दो धरातलों पर विद्यमान दीख पड़ती है—'आम आदमी' के लिए बुद्धिमानी इसी में है कि दोनों का जो अंश वह ले सके, ले ले। दोनों साथ-साथ सामंजस्य-पूर्ण ढंग से जी सकती हैं--यह जरूरी नहीं कि वे एक-दूसरी से घृणा करें या कालिख पोतें, वे एक-दूसरी से प्रेरणा ग्रहण कर सकती है। यह आवश्यक है कि ललित कलाएं और विद्या उच्चतम मानदण्डों का परिपालन करें, केवल आदर्शों की सिद्धि के प्रयत्न में रत रहें, किन्तु यह भी उतना ही आवश्यक है कि व्यावसायिकता के आघातों के बीच लोक-संस्कृति अपनी विमलता बनाये रखे। क्योंकि जनता की सच्ची और सहज अभिव्यक्ति होने पर ही वह प्रशंसनीय हो सकती है। 'बॉक्स आफिस' की भाँति और किसी चीज़ को 'जनता तक ले जाने' और 'जनता की आवश्यकता पूरी करने' की बातों के पीछे जो प्रवृत्ति होती है, वह संस्कृति के सभी रूपों की दुश्मन है। 'जनसाधारण' की पीठ पर जो लोग संरक्षण का हाथ रखने को आतुर हैं, उनसे वह सचेत रहे--बस, फिर संस्कृति का कोई अपकार नहीं होगा।

—मीना स्वामीनाथन्
(रूपान्तर : महेन्द्र चतुर्वेदी)

: चार :

जब तक हम इस बात पर सहमत न हो जाएं कि 'संस्कृति' का अर्थ क्या है, कैसे उसका जन्म होता है और कैसे लालन-पालन; और साथ ही इस बात पर भी एकमत न हो जाएं कि हमारी सभ्यता के ग्राम, नगर और उपनगर के सन्दर्भ में किसे 'जनसाधारण' माना जाये--तब तक दोनों का परस्पर सम्बन्ध निर्धारित कर पाना सहज नहीं है।

पहले 'संस्कृति' को लें। मैथ्यू आर्नल्ड ने इसकी जो परिभाषा की है वह सहज तो बहुत है पर विवादास्पद भी है। उन्होंने इसे पूर्णता का सन्धान माना है। मानिलोव्स्की और ग्लुकहार्न ने बड़ी व्यापक सूची प्रस्तुत करते हुए प्राविधिक प्रक्रियाओं, व्यवहार की प्रकट और प्रच्छन्न रीतियों, प्रतीकों, मूल्यों, विचारों, आदतों और प्रवृत्तियों सभी को उसमें समाविष्ट कर लिया है। इस प्रकार उसका क्षेत्र उतना ही विस्तृत हो जाता है जितना स्वयं जीवन। टी० एस० इलियट की स्थिति दोनों के बीच में है—उनके अनुसार आचार-व्यवहार की परिष्कृत, नागरिकता, शालीनता विद्या तथा अतीत की संचित ज्ञान-राशि से सम्पर्क—ये सब संस्कृति के अंग हैं। संक्षेप में, उनके अनुसार संस्कृति उन सब गुणों का समाहार है जो जीवन को जीने योग्य बनाते हैं।

संस्कृति का उद्भव कैसे होता है ? मनुष्य अपने आपको जिस प्राकृतिक परिवेश में पाता है क्या उसके प्रति एक लम्बे अरसे तक उसकी प्रतिचेष्टाओं से संस्कृति का जन्म होता है ? अथवा वह मार्क्स के अनुसार उत्पादन-पद्धति की ही एक गौण परिणति है ? क्या संस्कृति अवकाश-भोगी वर्ग की कम-से-कम चिन्तायुक्त अवकाश के क्षणों की सृष्टि है (और यहां हमें वालेरी की बात नहीं भूलनी चाहिए जिसने कहा था कि समाज-व्यवस्था के भांति-भांति के अन्यायों के बावजूद कला की उत्कृष्ट कृतियों का सृजन हुआ है) अथवा उसके पीछे कुछ गिनी-चुनी प्रवर विभूतियों की प्रेरणा रहती है जिनके द्वारा की हुई उच्चतर मूल्यों की स्थापनाएं छन-छन कर कालान्तर में जनसाधारण तक पहुंच जाती हैं ?

हमारे सामने जो सवाल रखे गये हैं उनका जवाब इस बात पर निर्भर है कि ऊपर जो विकल्प गिनाये गये हैं उनमें से हम किसे ठीक समझते हैं।

compiled and created by Bhartesh Mishra

और यह 'साधारण' आदमी कौन है जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं ? निश्चय ही दिल्ली-समाज का गौरव समझा जाने वाला वह आत्मसचेत व्यक्ति तो जनसाधारण में नहीं गिना जा सकता जो 'संस्कृति' शब्द कान में पड़ते ही फ़ौरन अपने बटुए की ओर हाथ बढ़ाता है—जैसे गोरिंग अपनी बन्दूक की ओर लपकता था—कि सीज़न के सारे सांस्कृतिक खेल-तमाशों और उत्सवों के लिए पहले से जगह सुरक्षित करा ले—और दिल्ली में ऐसा आदमी आम दिखाई पड़ जाता है। भारत में 'जनसाधारण' अब भी प्रायः अशिक्षित व्यक्ति है—जो देहात में रहता है, अपने बाप-दादों के विश्वासों में बंधा हुआ है और बहुत-कुछ उसी ढर्रे पर चलता जा रहा है जो अनगिनत पीढ़ियों से परम्परा के रूप में उसे मिला है। संस्कृति का कोई अपना अलग अस्तित्व है—वह नहीं जानता, उसके लिए तो वह एक मौलिक परम्परा है जिसमें पुरखों की समझदारी कूट-कूटकर भरी हुई है,' उसके लिए वह उसके सामान्य क्रिया-कलाप की ही एक गौण उत्पत्ति है जिसे वह न तो कोई नाम दे सकता है, न पहचान ही सकता है। उसे देखकर संस्कृति के लिए मेरे मन में जो उपमा आती है वह आदमी के दिल की है जो हमारे शरीरों में निरन्तर सक्रिय रहता है लेकिन जब तक वह रुग्ण होकर बरबस हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर लेता, हम उसकी मौजूदगी से भी अनभिज्ञ रहते हैं।

भारत का जनसाधारण द्वन्द्व की भावना और उसकी समवर्तिनी आत्मचेतना से विहीन होता है, वह बौद्धिक धरातल पर नहीं जीता, सहजवृत्ति के धरातल पर जीवनयापन करता है—अतः उसका परिचय संस्कृति के केवल निषेधात्मक पक्षों से होता है। वह संस्कृति को सामाजिक वर्जनाओं और ऐसे अन्य निषिद्ध कार्यों के रूप में जान पाता है जो 'बस किये नहीं जाते'। जहां तक संस्कृति के विधेयात्मक तत्त्व का प्रश्न है, उसकी मनोरचना को ढालने वाले कुछ विशिष्ट मूल्य होते हैं और जिन वस्तुओं में वे मूर्तरूप ग्रहण करते हैं उनके प्रति उसके मन में गहरा सम्मान अतर्क्य निष्ठा होती है। मोटे तौर पर इनमें मत-वैषम्य के प्रति सदय सहिष्णुता, कटुता के अभाव तथा जीवन के व्यवहार में शिष्टतापूर्ण आदान-प्रदान का उल्लेख किया जा सकता है। संक्षेप में, इन सबका समाहार अनेकता में एकता के साक्षात्कार में हो जाता है। उसमें निरुद्वेग और सन्तोष की भावना होती है, वह हड़बड़ाहट के कामों में विश्वास नहीं करता जो, नीत्शे के शब्दों में, शायद हमारी कालचक्र भावना का परिणाम हो। इसके अतिरिक्त, नैतिक नियम के प्रति जीवन्त जागरूकता भी है जो इहलोक में भी हमारे जीवन को शासित करता है और परलोक में भी—हमारा आचार व्यवहार तो उस पर निर्भर होता ही है, हमारे अतिमानसिक चिन्तन का भी वही आधार होता है। भारतीय संस्कृति की जनजीवन में प्रतिफलित होने वाली कुछ और विशेषताएं भी हैं : प्राणिमात्र का आदर, जो तीव्र करुणा तथा मानवीय भंगुरता की गहरी चेतना में व्यक्त होता है। इसके फलस्वरूप एक ओर तो वह मोक्ष का सन्धान करता है और दूसरी ओर उसमें अपने परिवार के प्रति अगाध मोह भी दृष्टिगोचर होता है।

उसकी संस्कृति शुद्ध एवं अमिश्र होनी चाहिए या नहीं—यह सवाल भारत में साधारण व्यक्ति के सामने आयेगा ही नहीं पर मान लीजिए वह इस मामले में काफी आत्म-सचेत होता, तो वह व्यावर्तन का रुख न अपनाता, क्योंकि इससे तो वास्तव में उसकी सम्पूर्ण सांस्कृतिक विरासत का ही निषेध हो जायेगा। आकाशवाणी के दिल्ली-केन्द्र में घुसते ही जो गोल घेर पड़ता है उसमें एक सिद्धान्त-वाक्य अंकित है जिसका आशय है कि हमारे वातायन दुनियां भर की सांस्कृतिक हवाओं के लिए हमेशा खुले रहे हैं और हमारी राष्ट्रीय प्रतिभा युग-युगों से संश्लेषात्मक रही है। जिन धरातलों पर सजग चयन सम्भव है, हमारे बुद्धिजीवी निःसंकोच देशों और विदेशों धाराओं से तत्त्व ग्रहण करते हैं। एडवर्ड शिल्स ने अपने हाल के एक विवेचन में यह तथ्य अतर्क्य रूप से सिद्ध कर दिया है। वास्तव में, उनके तथाकथित मूल्य-द्वन्द्व तथा सांस्कृतिक मनोविभाजन का कारण यह है कि वे 'जन्म एक संसार में लेते हैं और बंधे दूसरे से होते हैं।' सौभाग्यवश भारत में साधारण व्यक्ति इस दुःखदायी आत्मविभाजन से मुक्त है।

साधारण व्यक्ति किन भारतेतर सांस्कृतिक तत्त्वों को अंगीकार करने को तैयार होगा—आज 1960 में यह सवाल ही पैदा नहीं होता, परन्तु संस्कृति कभी स्थैतिक नहीं होती और हमारा युग सामूहिक सम्पर्क का युग है दुनियां भर में घूमने वाले सांस्कृतिक प्रतिनिधिमण्डलों के दौर-दौरे का युग है—अतः इस युग में सांस्कृतिक मिश्रण अनिवार्य है, जातीय शुद्धता की तरह संस्कृति की शुद्धता भी अब गुजरे ज़माने की एक कथा बनकर रह गई है। दो भारतेतर तत्व ऐसे अवश्य हैं जो हमारी संस्कृति में घुस रहे हैं, जिनका अनुभव साधारण व्यक्ति भी कर उठा है : इनमें से एक तो मानव व्यक्तित्व की नयी चेतना है जिसका आकार शायद मानवीय गरिमा का लोक तन्त्रीय आदर्श है, और दूसरी भौतिक सुख सुविधा की नवोदित इच्छा जिसे विज्ञान के जादू ने अत्यन्त व्यापक बना दिया है।

जनसाधारण में सांस्कृतिक चेतना तब लाभप्रद होती है जब वह उनमें दृढ़ता और सुरक्षा की भावना जगाये, स्थिरता एवं राष्ट्रीय एकता की भावना उद्बुद्धि करे, परिस्थितियों से समझौता और सामंजस्य करने की शक्ति दे, जिसका राष्ट्रीय संकट के क्षणों में अपार महत्त्व होता है। अंग्रेजों ने किस खूबी से हिटलर के सांघातिक प्रहारों के विरुद्ध 'अंग्रेजी जीवन-प्रणाली' की रक्षा की थी। जापानियों ने बड़ी तत्परता और कुशलता के साथ अमेरिकी हल के जुए को अपने कंधों पर स्वीकार किया था, पर समय अनुकूल होते ही उन्होंने इस जुए को उतार फेंका और अपने परम्परागत मूल्यों के धरातल पर लौट आये। ये ऐसे उदाहरण हैं, जिनसे सामान्य सांस्कृतिक चेतना की महत्ता स्पष्ट हो जाती है परन्तु कभी-कभी इससे अन्ध देश-प्रेम तथा युद्धप्रवणता के अविचार भी सम्भव हो सकते हैं—दुर्भाग्य से इसका एकनिकृष्ट उदाहरण हमें फ्रांसीसियों में मिलता है और वे निर्विवाद रूप से दुनियां की एक अत्यन्त उत्कृष्ट एवं भव्य संस्कृति के निर्माता भी हैं।

—आर० के० कपूर

(रूपान्तर : महेन्द्र चतुर्वेदी)

compiled and created by Bhartesh Mishra

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता : एक संगोष्ठी

3 दिसम्बर को राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने 'भारती संगम' नामक भारतीय साहित्यकारों के संगठन का उद्घाटन किया। संगम का लक्ष्य भारतीय भाषाओं के माध्यम द्वारा भारतीयता की उच्च परम्पराओं को प्रोत्साहन देना और जनगण के हृदयों में उदात्त राष्ट्रीय भावनाओं का संचार करना है। संगम का उद्घाटन करते हुए डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा कि विभिन्न भारतीय भाषाओं को और उनके साहित्य को एक दूसरे के निकट लाकर हम विचार-जगत् में साम्य, सद्भावना और एकता का वातावरण भी पैदा कर सकते हैं। उन्होंने आगे कहा कि सभी भारतीय भाषाओं और उनके साहित्य का अपना-अपना स्थान है। सभी भाषायें देश की सर्वांगीण उन्नति के लिये समान रूप से आवश्यक हैं।

उद्घाटन के दूसरे दिन भारती संगम की ओर से एक साहित्य गोष्ठी आयोजित की गई, जिसका विषय था : भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता। इस गोष्ठी के विद्वान्-वक्ताओं ने प्रत्येक भारतीय भाषा के साहित्य के वैशिष्ट्य को मान्यता देते हुए भी यह स्वीकार किया कि यह वैविध्य गहरा नहीं है और भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसंधान सहज संभव है। जन्म काल और विकास-क्रम का समानान्तर आधार, सांस्कृतिक परिस्थितियों का गहरा साम्य, समान साहित्यिक रिक्थ आदि अनेक कारणों से भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है। भारती संगम के सौजन्य से और उसके अधिकारियों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए हम इस संगोष्ठी के प्रमुख निबंध 'संस्कृति' में दे रहे हैं।

——सम्पादक

: एक :

भारतवर्ष अनेक भाषाओं का विशाल देश है। उत्तर-पश्चिम में पंजाबी, हिन्दी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बंगला और असमिया, मध्य-पश्चिम में मराठी और गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम। इनके अतिरिक्त कतिपय और भी भाषाएं हैं जिनका साहित्यिक और भाषावैज्ञानिक महत्व कम नहीं है——जैसे कश्मीरी, डोगरी, सिंधी, कोंकणी, तूरू आदि। इनमें से प्रत्येक का, विशेषतः पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण सभी की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही सम्पूर्ण वाङ्मय का संचयन किया जाए तो मेरा अनुमान है कि वह यूरोप के संकलित वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा : वैदिक संस्कृत, संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों का समावेश कर लेने पर तो उसका अनन्त विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है : ज्ञान का अपार भांडार ——हिन्द महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊंचा और ब्रह्म की प्रकल्पना से भी अधिक सूक्ष्म। इनमें प्रत्येक साहित्य का अपना स्वतंत्र और प्रखर वैशिष्ट्य है जो अपने प्रदेश के व्यक्तित्व से मुद्रांकित है। पंजाबी और सिन्धी, इधर हिन्दी और उर्दू की प्रदेश-सीमाएं कितनी मिली हुई हैं किन्तु उनके अपने-अपने साहित्य का वैशिष्ट्य कितना प्रखर है——इसी प्रकार गुजराती और मराठी का जन-जीवन परस्पर ओत-प्रोत है, किंतु क्या उनके बीच में किसी प्रकार की भ्रांति सम्भव है? दक्षिण की भाषाओं का उद्गम एक है : सभी द्रविड़ परिवार की विभूतियां हैं, परन्तु क्या कन्नड़ और मलयालम या तमिल और तेलुगु के स्वारूप्य के विषय में शंका हो सकती है? यही बात बंगला, असमिया और उड़िया के विषय में सत्य है——बंगला के गहरे प्रभाव को

compiled and created by Bhartesh Mishra

पचाकर असमिया और उड़िया अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाए हुए हैं।

इन सभी साहित्यों में अपनी-अपनी विशिष्ट विभूतियां हैं। तमिल का संगम साहित्य, तेलुगु के द्व्यर्थी काव्य और उदाहरण तथा अवधान-साहित्य मलयालम के संदेश-काव्य एवं कीर-गीत (किलिप्पाटु) तथा मणिप्रवालम् शली, मराठी के पवाड़े, गुजराती के आख्यान और फागु, बंगला का मंगल-काव्य, असमिया के बड़गीत और बुरंजी साहित्य, पंजाबी के रम्याख्यान तथा वीरगीत, उर्दू की ग़जल और हिन्दी के रीति-काव्य तथा छायावाद आदि अपने-अपने भाषा-साहित्य के वैशिष्ट्य के उज्जवल प्रमाण हैं।

फिर भी कदाचित् यह पार्थक्य आत्मा का नहीं है। जिस प्रकार अनेक धर्मों, विचारधाराओं और जीवन-प्रणालियों के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति की एकता असंदिग्ध है, इसी प्रकार और इसी कारण से अनेक भाषाओं और अभिव्यंजना-पद्धतियों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। यहां इस एकता के आधार-तत्वों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

दक्षिण में तमिल और उधर उर्दू को छोड़ भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्म-काल प्रायः समान ही है। तेलुगु साहित्य के प्राचीनतम ज्ञात कवि हैं नन्नय, जिनका समय है ईसा की ग्यारहवीं शती। कन्नड़ का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है कवि-राजमार्ग जिसके लेखक हैं राष्ट्रकूट वंश के नरेश नृपतुंग (814–877) ई० और मलयालम की सर्वप्रथम कृति है रामचरितम् जिसके विषय में रचनाकाल और भाषास्वरूप आदि की अनेक समस्याएं हैं और जो अनुमानतः तेरहवीं शती की रचना है। गुजराती तथा मराठी का आविर्भाव-काल लगभग एक ही है : गुजराती का आदि ग्रन्थ सन् 1185 ई० में रचित शालिभद्र भारतेश्वर का बाहुबलिरास है और मराठी के आदिम-साहित्य का आविर्भाव बारहवीं शती में हुआ था। यही बात पूर्व की भाषाओं के विषय में सत्य है—बंगला के चर्या-गीतों की रचना शायद दसवीं और बारहवीं शताब्दी के बीच किसी समय हुई होगी, असमिया साहित्य के सबसे प्राचीन उदाहरण प्रायः तेरहवीं शताब्दी के अन्त के हैं, जिनमें सर्वश्रेष्ठ हैं हेम सरस्वती की रचनाएं प्रह्लादचरित तथा हरगौरी-संवाद, उड़िया भाषा में भी 'तेरहवीं शताब्दी में निश्चित रूप से व्यंग्यात्मक काव्य और लोकगीतों के दर्शन होने लगते हैं'—उधर चौदहवीं शती में तो उड़ीसा के व्यास सारलादास का आविर्भाव हो ही जाता है। इसी प्रकार पंजाबी और हिन्दी में ग्यारहवीं शती में व्यवस्थित साहित्य उपलब्ध होने लगता है। केवल दो भाषाएं ऐसी हैं जिनका जन्मकाल भिन्न है—तमिल जो संस्कृत के समान प्राचीन है—(यद्यपि तमिल-भाषी उसका उद्भव और भी पहले मानते हैं) और उर्दू जिसका वास्तविक आरम्भ पन्द्रहवीं शती से पूर्व नहीं माना जा सकता।

जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं। प्रायः सभी का आदि-काल पन्द्रहवीं शती तक चलता है, पूर्वमध्यम काल की समाप्ति मुगल वैभव के अन्त अर्थात् सत्रहवीं शती के मध्य में तथा उत्तर मध्यकाल की अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के साथ होती है—और तभी से आधुनिक युग का आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के अधिकांश साहित्यों का विकास-क्रम लगभग एक-सा ही है—सभी प्रायः समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

इस समानान्तर विकास-क्रम का आधार अत्यन्त स्पष्ट है—और वह है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विकास-क्रम। बीच-बीच में व्यवस्था होने पर भी भारतवर्ष में शताब्दियों तक समान राजनीतिक व्यवस्था रही है: मुगल शासन में तो लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उत्तर-दक्षिण और पूर्व-पश्चिम में घनिष्ठ सम्पर्क बना रहा—मुगलों की सत्ता खण्डित हो जाने के बाद भी यह सम्पर्क टूटा नहीं। मुगल शासन के पहले भी राज्यविस्तार के प्रयत्न होते रहे थे। राजपूतों में कोई एक छत्र भारत-सम्राट् तो नहीं हुआ, किन्तु उनके राजवंश भारत-वर्ष के अनेक भागों में शासन कर रहे थे—शासक भिन्न होने पर भी उनकी सामन्तीय शासन-प्रणाली प्रायः एक सी थी। इसी प्रकार मुसलमानों की शासन-प्रणाली में भी स्पष्ट मूलभूत समानता थी। बाद में अंग्रेजों ने तो केन्द्रीय शासन-व्यवस्था कायम कर इस एकता को और भी दृढ़ कर दिया। इन्हीं सब कारणों से भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य रहा है।

राजनीतिक परिस्थितियों की अपेक्षा सांस्कृतिक परिस्थितियों का साम्य और भी अधिक रहा है। पिछले सहस्राब्द में अनेक धार्मिक और सांस्कृतिक आन्दोलन ऐसे हुए जिनका प्रभाव भारतव्यापी था। बौद्ध धर्म के ह्रास के युग में उसकी कई शाखाओं और शैव-शाक्त धर्मों के संयोग से नाथ सम्प्रदाय उठ खड़ा हुआ जो ईसा के द्वितीय सहस्राब्द के आरम्भ में उत्तर में तिब्बत आदि तक, दक्षिण में पूर्वी घाट के प्रदेशों में, पश्चिम में महाराष्ट्र आदि में और पूर्व में प्रायः सर्वत्र फैला हुआ था। योग की प्रधानता होने पर भी इन साधुओं की साधना में, जिनमें नाथ, सिद्ध और शैव सभी थे, जीवन के विचार और भाव पक्ष की उपेक्षा नहीं थी और इनमें से अनेक साधु आत्माभिव्यक्ति एवं सिद्धान्त-प्रतिपादन दोनों के लिए कविकर्म में प्रवृत्त होते थे। भारतीय भाषाओं के विकास के प्रथम चरण में इन सम्प्रदायों का प्रभाव प्रायः विद्यमान था। इनके बाद इनके उत्तराधिकारी संत-सम्प्रदायों और नवागत मुसलमानों के सूफीमत का प्रसार देश के भिन्न-भिन्न भागों में होने लगा। संत सम्प्रदाय वेदान्त दर्शन से प्रभावित थे और निर्गुण भक्ति की साधना तथा प्रचार करते थे—सूफी धर्म में भी निराकार ब्रह्म की ही उपासना थी किन्तु उसका माध्यम था उत्कट प्रेमानुभूति। सूफी संतों का यद्यपि उत्तर-पश्चिम में अधिक प्रभुत्व था, फिर भी दक्षिण के बहमनी, बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों में भी इनके अनेक केन्द्र थे और वहां भी अनेक प्रसिद्ध सूफी संत हुए। इसके पश्चात् वैष्णव आन्दोलन का आरम्भ हुआ,

compiled and created by Bhartesh Mishra

जो समस्त देश में बड़े वेग से व्याप्त हो गया। राम और कृष्ण की भक्ति की अनेक मधुर पद्धतियों का देश भर में प्रसार हुआ और समस्त भारतवर्ष सगुण ईश्वर के लीला-गान से गुंजरित हो उठा। उधर मुस्लिम संस्कृति और सभ्यता का प्रभाव भी निरंतर बढ़ रहा था—ईरानी संस्कृति के अनेक आकर्षक तत्व-जैसे वैभव-विलास, अलंकरण-सज्जा आदि भारतीय जीवन में बड़े वेग से घुल-मिल रहे थे और एक नई दरबारी या नागर संस्कृति का आविर्भाव हो रहा था। राजनीतिक और आर्थिक पराभव के कारण यह संस्कृति शीघ्र ही अपना प्रसादमय प्रभाव खो बैठी और जीवन के उत्कर्ष एवं आनन्दमय पक्ष के स्थान पर रुग्ण विलासिता ही इसमें शेष रह गई। तभी पश्चिम के व्यापारियों का आगमन हुआ जो अपने साथ पाश्चात्य शिक्षा-संस्कार लाए; और जिनके पीछे-पीछे मसीही प्रचारकों के दल भारत में प्रवेश करने लगे। उन्नीसवीं शती में अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में स्थापित हो गया और शासक वर्ग सक्रिय रूप से योजना बना कर अपनी शिक्षा, संस्कृति और उनके माध्यम से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने धर्म का प्रसार करने लगा प्राच्य और पाश्चात्य के इस सम्पर्क और संघर्ष से आधुनिक भारत का जन्म हुआ।

भारत के आधुनिक साहित्य का विकास-क्रम भी कितना समान है। विदेशी धर्म-प्रचारकों और शासकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के साथ सम्पर्क एवं संघर्ष और उससे पुनर्जागरण युग का उदय, राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रेरणा से साहित्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष, साहित्य में नीतिवाद एवं सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नई रोमानी सौन्दर्य-दृष्टि का उन्मेष, चौथे दशक में साम्यवादी विचारधारा के प्रचार से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, इलियट आदि के प्रभाव से नए जीवन की बौद्धिक कुण्ठाओं और स्वप्नों को शब्द-रूप देने के नए प्रयोग, और अन्त में स्वतन्त्रता के बाद विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार—यही संक्षेप में आधुनिक भारतीय वाङ्मय के विकास की रूप-रेखा है जो सभी भाषाओं में समान रूप से लक्षित होती है।

अब साहित्यिक पृष्ठाधार को लीजिए—भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, फिर भी उनका साहित्यिक रिक्थ समान ही है। रामायण महाभारत, पुराण, भागवत, संस्कृत का अभिजात साहित्य—अर्थात् कालिदास भवभूति, बाण, श्रीहर्ष, अमरुक, और जयदेव आदि की अमर कृतियां, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मों का साहित्य भारत की समस्त भाषाओं को उत्तराधिकार में मिला है। शास्त्र के अंतर्गत उपनिषद्, षड्दर्शन, स्मृतियां आदि और उधर काव्य-शास्त्र के अनेक अमर ग्रन्थ—नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्य-प्रकाश, साहित्यदर्पण, रसगंगाधर आदि की विचार-विभूति का उपभोग भी सभी ने निरन्तर किया है। वास्तव में आधुनिक भारतीय भाषाओं के ये अक्षय प्रेरणा-स्रोत हैं और प्रायः सभी को समाज रूप से प्रभावित करते रहे हैं। इनका प्रभाव निश्चय ही अत्यन्त समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गई है। इस प्रकार समान राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्म-जात समानता एक सहज घटना है।

अब तक हमने भारतीय वाङ्मय की केवल विषयवस्तुगत अथवा रागात्मक एकता की ओर संकेत किया है। किन्तु काव्य-शैलियों और काव्यरूपों की समानता भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत के प्रायः सभी साहित्यों में संस्कृत से प्राप्त काव्य-शैलियां—महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, कथा, आख्यायिका आदि के अतिरिक्त अपभ्रंश परम्परा की भी अनेक शैलियां, जैसे चरितकाव्य, प्रेमगाथा शैली, रास, पद-शैली, आदि प्रायः समान रूप में मिलती हैं। अनेक वर्णिक छन्दों के अतिरिक्त अनेक देशी छन्द-दोहा, चौपाई, आदि भी भारतीय वाङ्मय के लोकप्रिय छन्द हैं। इधर आधुनिक युग में पश्चिम के अनेक काव्य-रूपों और छन्दों का जैसे प्रगीत काव्य और उसके अनेक भेदों : सम्बोध-गीत, शोक-गीत, चतुर्दशपदी का, और मुक्त-छन्द, गद्य-गीत आदि का प्रचार भी सभी भाषाओं में हो चुका है। यही बात भाषा के विषय में भी सत्य है। यद्यपि मूलतः भारतीय भाषाएं दो विभिन्न परिवारों—आर्य और द्रविड़ परिवारों की भाषाएं हैं, फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों के और आधुनिक युग में अंग्रेजी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दों की अनेक प्रकार की समानताएं सहज ही लक्षित हो जाती हैं। भारतीय भाषाएं अपनी व्यंजनात्मक तथा लाक्षणिक शक्तियों के विकास के लिए, चित्रमय शब्दों और पर्यायों के लिए तथा नवीन शब्द-निर्माण के लिए निरंतर संस्कृत के भाण्डार का उपयोग करती रही हैं—और आज भी कर रही हैं। इधर वर्तमान युग में अंग्रेजी का प्रभाव भी अत्यन्त स्पष्ट है। अंग्रेजी की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शक्ति बहुत विकसित है, पिछले पचास वर्ष से भारत की सभी भाषाएं उसकी नवीन प्रयोग-भंगिमाओं, मुहावरों, उपचार-वक्रताओं का सचेष्ट ग्रहण कर रही हैं। उधर गद्य पर तो अंग्रेजी का प्रभाव और भी अधिक है—हमारी वाक्य-रचना प्रायः अंग्रेजी पर ही आश्रित है। अतः इन प्रयत्नों के फलस्वरूप साहित्य की माध्यम भाषा में एक गहरी आंतरिक समानता मिलती है, जो समान विषय-वस्तु के कारण और भी दृढ़ हो जाती है।

इस प्रकार यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि 'भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्त एक ही विचार है'। देश का यह दुर्भाग्य है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक विदेशी प्रभाव के कारण अनेकता को ही बल मिलता रहा है। इसकी मूलवर्ती एकता का सम्यक् अनुसंधान अभी होना है। इसके लिए अत्यन्त निस्संग भाव से, सत्यशोध पर दृष्टि केन्द्रित रखते हुए, भारत के विभिन्न साहित्यों में विद्यमान समान तत्वों एवं प्रवृत्तियों का विधिवत् अध्ययन पहली आवश्यकता है। यह कार्य हमारे अध्ययन और अनुसंधान की प्रणाली में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। किसी भी प्रवृत्ति का अध्ययन केवल एक भाषा के साहित्य तक

compiled and created by Bhartesh Mishra

ही सीमित नहीं रहना चाहिए—वास्तव में इस प्रकार का अध्ययन अत्यन्त अपूर्ण रहेगा। उदाहरण के लिए मधुरा भक्ति का अध्येता यदि अपनी परिधि को केवल हिन्दी या केवल बंगला तक ही सीमित कर ले तो वह सत्य की शोध में असफल रहेगा—उसे अपनी भाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में प्रवाहित मधुरा भक्ति की धारा में अवगाहन करना होगा—गुजराती, उड़िया, असमिया, तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम सभी की तो भूमि मधुर रस से आप्लावित है। एक भाषा तक सीमित अध्ययन में स्पष्टतः अनेक छिद्र रह जाएंगे। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार को जो अनेक घटनाएं सांयोगिक सी प्रतीत होती हैं वे वास्तव में ऐसी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल को हिन्दी के जिस विशाल गीत-साहित्य की परम्परा का मूल स्रोत प्राप्त करने में कठिनाई हुई थी, वह अपभ्रंश के अतिरिक्त दक्षिण की भाषाओं में और बंगला में सहज ही मिल जाता है। सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी काव्य में घटने वाली आकस्मिक या ऐकान्तिक घटना नहीं थी, गुजराती कवि भालण ने अपने आख्यानों में और पन्द्रहवीं शती के मलयालम कवि ने कृष्ण-गाथा की बाल-लीलाओं का वर्णन किया है। भारतीय भाषाओं के रामायण और महाभारत-काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन न जाने कितनी समस्याओं को अनायास ही सुलझा कर रख देता है। रम्याख्यान काव्यों की अगणित कथानक-रूढ़ियां विविध भाषाओं के प्रेमाख्यान-काव्य का अध्ययन किए बिना स्पष्ट नहीं हो सकतीं। सूफ़ी काव्य के मर्म को समझने में फ़ारसी के अतिरिक्त उत्तर-पश्चिम की भाषाओं—कश्मीरी, सिंधी, पंजाबी और उर्दू में विद्यमान तत्सम्बन्धी साहित्य से अमूल्य सहायता प्राप्त हो सकती है। तुलसी के रामचरित-मानस में राम के स्वरूप की प्रकल्पना को हृदगत किए बिना अनेक भारतीय भाषाओं के रामकाव्य का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा। इसी प्रकार हिन्दी के अष्टछाप कवियों का प्रभाव बंगाल और गुजरात तक अव्यक्त रूप से व्याप्त था—वहां के कृष्ण-काव्य के सम्यक् विवेचन में इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस अंतः साहित्यिक शोध-प्रणाली के द्वारा अनेक लुप्त कड़ियां अनायास ही मिल जाएंगी—अगणित जिज्ञासाओं का सहज समाधान हो जाएगा और उधर भारतीय चिंताधारा एवं रागात्मक चेतना की अखण्ड एकता का उद्घाटन हो सकेगा।

किन्तु यह कार्य जितना महत्वपूर्ण है उतना ही कठिन भी। सबसे पहली कठिनाई तो भाषा की है। अभी तक भारतीय अनुसंधानताओं का ज्ञान प्रायः अपनी भाषा के अतिरिक्त अंग्रेजी और संस्कृत तक ही सीमित है—प्रादेशिक भाषाओं से उनका परिचय नहीं है। ऐसी स्थिति में डर है कि प्रस्तावित योजना कहीं पुण्य इच्छा मात्र होकर न रह जाए, पर यह बाधा अजेय नहीं है। व्यवस्थित प्रयास द्वारा इसका निराकरण करना कठिन नहीं है। कुछ भाषा वर्ग तो ऐसे हैं जिनमें अत्यल्प अभ्यास से काम चल सकता है, उनमें तो रूपान्तर—यहां तक कि लिप्यन्तर भी आवश्यक नहीं है। जैसे बंगला, असमिया और उड़िया में या हिन्दी और मराठी में या तेलुगु और कन्नड़ में कुछ शब्दों अथवा शब्द-रूपों के अर्थ आदि देकर काम चल सकता है। हिन्दी, उर्दू, और पंजाबी में लिप्यन्तर और कठिन शब्दार्थ से समस्या सुलझ सकती है: यही हिन्दी और गुजराती तथा तमिल और मलयालम के विषय में प्रायः सत्य है। अन्य भाषाओं के लिए अनुवाद का आश्रय लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक-इतिहास परिचय, तुलनात्मक अध्ययन, तुलनात्मक अनुसंधान, अंतः साहित्यिक गोष्ठियां आदि की सम्यक् व्यवस्था द्वारा परस्पर आदान-प्रदान की सुविधा हो सकती है। आज देश में इस प्रकार की चेतना प्रबुद्ध हो गई है और कतिपय संस्थाएं इस दिशा में अग्रसर हैं। किन्तु अभी तक यह अनुष्ठान अपनी आरम्भिक अवस्था में ही है—इसके लिए जैसे व्यापक एवं संगठित प्रयत्न की अपेक्षा है, वैसा आयोजन अभी हो नहीं रहा। फिर भी 'भारतीय साहित्य' की चेतना की प्रबुद्धि ही अपने आप में शुभ लक्षण है। भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सांस्कृतिक एकता का सबसे दृढ़ एवं स्थायी आधार है साहित्य। जिस प्रकार अनेक निराशावादियों की आशंकाओं को विफल करता हुआ भारतीय राष्ट्र निरन्तर अपनी अखण्डता में उभरता आ रहा है, इसी प्रकार एक समंजित इकाई के रूप में 'भारतीय साहित्य' का विकास भी धीरे-धीरे हो रहा है। यदि मूलवर्ती चेतना एक है तो माध्यम का भेद होते हुए भी साहित्य का व्यक्त रूप भी भिन्न नहीं हो सकता।

—नगेन्द्र (डा०)
(हिन्दी में मौलिक)

: दो :

हमारा देश एक अद्भुत देश है। यह संयोग कभी-कभी ही हुआ है कि पूरा देश एक ही शासक या एक केन्द्रीय सरकार के अधीन आ गया हो। फिर भी समाज के नेता और सांस्कृतिक संगठक सदैव इस दिशा में जागरूक रहे कि पूरे देश में एक केन्द्रीय शासन हो। वे पूरे देश के लिए एक सामाजिक संस्कृति के लाभों को देखते हुए सदैव उसके लिये प्रयत्नशील रहे। दूसरी ओर शासक भी विभिन्न प्रकार की लोक-संस्कृतियों के प्रति निष्पक्ष सहानुभूति रखते रहे और उनका दृष्टिकोण काफी परंपरा-पोषक रहा।

परन्तु संस्कृति के विभिन्न रूपों का विस्तार या संश्लेष राजकीय आश्रय या कानूनी बंधनों पर ही निर्भर नहीं रहा। जनसमुदाय प्रायः शासक के प्रति उदासीन रहा। युद्ध शासकवर्ग की साम्राज्य लिप्सा या पारस्परिक ईर्ष्या के ही कारण लड़े गये। जनसमुदाय इन अशान्तियों को अनिवार्य समझकर सहता रहा। वह स्वयं बड़ा शांति-प्रिय बना रहा। उस समय की जनता आसानी से थोरो का यह आदर्श मान सकती थी कि 'वही सरकार सबसे अच्छी है, जो सबसे कम शासन करती है।' सामान्यतः देश में शान्ति और समृद्धि रही और लोग दुष्काल और ईति-भीतियों या समय-समय पर होने वाले युद्धों से बच निकलने में समर्थ रहे। कुछ अरक्षित क्षेत्र थे और समृद्ध लोग वहां न बसते थे। लोग अच्छे खाने-पहनने में और कला, उद्योग आदि में चाव लेते थे और धर्म और संस्कृति में उनकी बड़ी ही रुचि थी।

compiled and created by Bhartesh Mishra

सांस्कृतिक नेताओं ने संस्कृत और उससे सम्बन्धित प्राकृतों के प्रति बड़ा ही अनुराग दिखाया। यह देश के एकीकरण और सांस्कृतिक एकरूपता का एक महत्वपूर्ण कारण रहा। उत्तर के आर्य और दक्षिण के द्रविड़-दोनों ही संस्कृत के महान् विश्वजनीन साहित्य के अध्ययन और प्रसार में समान रुचि लेते रहे। जनसमुदाय भी इस साहित्य की गंगा से बहिष्कृत और वंचित न रहा। यह ठीक है कि ब्राह्मण और उच्चवर्ग के लोग संस्कृत के पवित्र साहित्य के एकाधिकारी रहे, पर धर्म सुधारकों और संतों ने महान् ग्रंथों का सार लोक-बोलियों में जनसमुदाय तक पहुंचाया। उन्होंने लोगों को असत् से दूर रह सत् का ग्रहण करने का उपदेश दिया।

भारतीय संस्कृति की यह अद्भुत एकरूपता सन्तों और जनसेवक विद्वानों के अजस्र प्रयत्नों का ही प्रतिफल है। बड़े-बड़े पुराण आदि का लगभग पूरा ही अनुवाद इन लोगों ने प्रादेशिक भाषाओं में सुलभ कर दिया। रामायण का सार आज आपको न केवल बड़ी-बड़ी प्रादेशिक भाषाओं में बल्कि आदिवासियों की बोलियों तक में पढ़ने को मिल सकता है। कृष्ण की कहानी आसाम की कुछ आदिमजातियों की सीमित उपभाषाओं तक में गाई जाती है।

हमारे सन्त बड़े ही यात्री थे। वह एक से दूसरे प्रदेश में विचरते रहते थे और लोगों से मिलते-जुलते रहते थे। उनकी बोलियां बोलते थे। दुःख-सुख में उनका साथ देते थे। वे उनको संस्कृति का गहन तत्त्व भी समझाते थे। इसीलिए हम आज देखते हैं कि एक सामान्य अशिक्षित और अपठित किसान और शिल्पी बड़ा ही सुसंस्कृत है। वह जाति के तत्त्वदर्शन के निचोड़ से सुपरिचित है। वह जानता है कि जीवन में क्या उपदेश और आदर्श हैं। साथ ही भारतवासी सभी प्राणधारियों के प्रति सहज आदर की भावना रखते हैं — सभी धर्मों के प्रति समान आदर दिखाते हैं।

यदि हम भारत की प्रमुख भाषाओं के साहित्येतिहास पर गंभीर ध्यान दें, तो हमें पता चलता है कि हर युग का साहित्य प्रायः सभी भाषाओं में एक जैसा ही है। सभी जगह हमारे उत्सव, त्यौहार और समारोह प्रायः एक जैसे ही हैं। यदि पन्द्रहवीं सदी में भक्तिमार्ग का अभ्युत्थान होना है, तो बंगला, हिन्दी, गुजराती और मराठी सभी में हम एक जैसी ही भावनाओं की अभिव्यक्ति पाते हैं। कर्नाटक और केरल के भक्तिगीत भी बिल्कुल मिलते-जुलते ही हैं। महान् और काव्यमय द्रविड़ भाषायें संस्कृत और तमिल उद्भव के शब्दों को प्रायः समान रूप से ही प्रयोग में लाती हैं। उन्होंने मणिप्रवाल नाम की शैली को जन्म दिया है, जो एक ऐसी माला है, जिसमें मोती और मूंगा एक के बाद एक करके गूंथे जाते हैं।

आसाम के महान् धर्मसुधारक सन्त शंकरदेव—जिनका उद्भव प्रायः पांच सौ साल पहले हुआ था—कई साल तक पूरे भारत का भ्रमण करते रहे। प्रत्येक क्षेत्र के वैष्णव भक्तों के सजीव संपर्क में आकर उन्होंने वैष्णव धर्म के सर्वांगीण तत्त्व को अपनाया था। मीराबाई और कबीर के गीत पूरे भारत में गाये जाते हैं। पंढ़रपुर (महाराष्ट्र) के दर्जी संत नामदेव के अभंग सिखों के ग्रंथसाहब में सम्मिलित पाये जाते हैं। सचाई यह है कि नामदेव उत्तर की तीर्थ-यात्रा पर गये तो लौटकर महाराष्ट्र में नहीं आये और पंजाब में ही बस गये। बंगाल के चैतन्य महाप्रभु के बारे में कहा जाता है कि वह भी महाराष्ट्र में आये थे। इसमें तो कोई संदेह है ही नहीं कि उनका प्रभाव महाराष्ट्र पर अवश्य पड़ा है।

जैन और बौद्ध धर्म के प्रमुख विद्वान् और संत भी बड़े यात्रा-रसिक थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी संस्कृति को दूर-दूर तक फैलाया। पूरे दक्षिण भारत पर जैन संस्कृति का प्रभाव पड़ा है और तमिलनाड के आलवार संत तो जैन संत ही माने जाते हैं। बौद्धधर्म प्रचारक भारत की सीमा में ही सीमित नहीं रहे और हिमालय की बाधा भी उन्हें बांधकर न रख सकी। वे तिब्बत गये। वे सुदूर पूर्व के देशों में गये। उन्होंने विभिन्न देशों की संस्कृतियों पर एक अमिट छाप छोड़ी।

यदि हम भारत के विभिन्न प्रदेशों के विभिन्न युगों के साहित्य पर दृगपात करें, तो हमें हर जगह वही रूप दिखाई देता है। एशिया की प्रागैतिहासिक संस्कृति एक विशाल महासागर जैसी थी, जो बाद में सूख कर छोटे-बड़े तालाबों में सीमित रह गई। आर्य संस्कृति भी एकरूप थी और वह पूरे भारत में फैली। आज वह देश के प्रादेशिक साहित्यों में विभिन्न रूपों में देखने को मिलती है। कभी-कभी हमें शाक्तधर्म देश में प्रबल दिखाई देता है और उस युग के विभिन्न साहित्य उससे प्रभावित दिखाई देते हैं। इसके बाद कर्मकांड की प्रधानता का युग आता है, तो सारे देश में उसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। शाक्त धर्म के बाद वैष्णव या भागवत् धर्म आता है। ये लोग भी बड़े धुरंधर प्रचारक थे। उनकी सफलतायें इस्लाम या ईसाइयों की सफलताओं से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं। उन्होंने अथाह साहित्य की सृष्टि की है। आज भारत की प्रादेशिक भाषाओं का अधिकांश साहित्य वैष्णव साहित्य ही है।

फिर इस्लाम (और सूफ़ीवाद) और ईसाई धर्म का अभ्युदय हुआ। ईसाई अपना धुरंधर धर्म प्रचार भी अपने साथ लाये। इससे, विज्ञान, टेकनोलौजी और मानवविद्याओं में भी प्रगति हुई। यह सब भी सभी प्रादेशिक साहित्यों पर भली भांति प्रतिबिंबित दिखाई देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत राजनीति की दृष्टि से चाहे एक रहा हो या विभाजित—वह सांस्कृतिक दृष्टि से एक रहा है। हर प्रदेश के समाज पर एक जैसे ही सांस्कृतिक प्रभाव पड़े हैं और इसका वहां के साहित्यों पर भी एक जैसा ही सांश्लेषिक या विश्लेषिक-प्रतिफलन हुआ है।

इस प्रकार भारतीय साहित्य में न केवल एक मूलभूत एकता दृष्टिगोचर होती है, बल्कि विकास का क्रम भी वही है और अभिव्यक्ति का तरीका भी वही। हमें आशा है कि आज के स्वाधीन और एकीभूत भारत में, जो दुनियां में अपना प्राप्य स्थान प्राप्त करने जा रहा है, यथासमय एक नई एकता और मानवता की सेवा की एक नई प्रेरणा विकसित होगी।

—काका कालेलकर

(रूपान्तर : राजेन्द्र द्विवेदी)

compiled and created by Bhartesh Mishra

: तीन :

आज जो समस्या उठाई गई है, वह 'भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता' के बारे में है और हमें इसका ध्यान रखना चाहिए।

भाषाओं के साहित्य भी उस एक भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अब तक बुनियादी रूप से एक ही रहा है। इसलिए इसका प्रभाव हमारे साहित्यों पर पड़ना ही चाहिए और यह केवल संस्कृति का ही प्रश्न नहीं है। जैसा अभी एक सज्जन ने बताया संस्कृति धर्म पर आधारित होती है और जब तक धर्म का आधार न हो, एकरूपता नहीं आ सकती। इसमें यदि थोड़े-बहुत हेरफेर हों भी, तो वे यही निरूपित करते हैं कि वह संस्कृति आधार रूप से अपेक्षतया विस्तृत है। फ्रांसीसी, पोर्चुगीज़ और दूसरी संस्कृतियां भी हैं, पर यह सांस्कृतिक हिंदू विचार प्रणाली ही है जिसके आधार पर हमें भारत में एक सार्वजनीन एकबद्धता दृष्टिगोचर होती है। हिन्दू धर्म के विचार, सिद्धांत और पुराण-कथाएं ही हमारे सभी साहित्यों के मूलस्रोत हैं। उदाहरण के लिए आप जानते हैं कि जैसे महान् रामानुज सम्प्रदाय का अभ्युदय हुआ, उसके सिद्धांत तमिल को छोड़कर प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में अनूदित कर लिए गए। तमिल को छोड़ दें, तो आप देखेंगे कि सभी भाषाओं में रामानुज-साहित्य ने जीवन की एक नई व्याख्या प्रस्तुत की और वह एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन ही बन गया। उन्नीसवीं सदी में जब नए सुधारवादी धार्मिक आंदोलनों का उद्भव हुआ, तो उनका, रूप भी देशव्यापी रहा और प्रत्येक भाषा के साहित्य में उन्हें अभिव्यक्ति मिली। विचारों की यह एकता चूंकि धर्म पर आधारित थी, इसलिए यह भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भी एकरूप ही थी।

उर्दू भाषा विशुद्धतः मुसलमानों की ही सांस्कृतिक देन हो ऐसी बात नहीं है। यह हिंदू और मुसलमानों दोनों का ही संयुक्त काम था और दोनों ने ही मिलकर एक भारतीय राष्ट्र भाषा को जन्म दिया था। इसने फ़ारसी से भी उतनी ही जीवनशक्ति प्राप्त की थी, जितनी संस्कृत से। अन्य भाषाओं से इसका सम्बन्ध इस प्रकार का नहीं है। इसका अनुवाद करना आसान है और उन्हीं अभिव्यक्तियों का बिना उनका महत्व नष्ट किए दूसरी भाषा में वहन करना काफ़ी सरल है। यही बात अंग्रेजी के विषय में नहीं कहीं जा सकती भले ही वह किसी भी भारतीय भाषा से अनुवाद के प्रसंग में क्यों न हो। पूरे भारत में ऐसी स्थिति क्यों हुई? मेरे विचार से आर्यों की इस देश को जो महान् देन है, वह बड़ी ही आनम्य, समृद्ध और सशक्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृति की भाषा के रूप में यह आर्यों की देन थी, किंतु अन्य भाषाएं भी विद्यमान थीं। यदि ऐसा न होता, तो हमारा देश आज से बहुत पहले विभाजित हो गया होता। इस शक्ति के कारण हमें दृढ़ता और एकता प्राप्त हुई।

प्राचीन समय में बोली जानेवाली भाषाओं और आज की भाषाओं में अन्तर है। पन्द्रहवीं सदी में बोली जाने वाली अंग्रेजी आज जैसी न थी। दूसरी भाषाओं के बारे में भी स्थिति ऐसी ही है। किन्तु पांचवी सदी में लिखी जानेवाली संस्कृत का रूप भी वही था, जो आज लिखी जानेवाली और बोली जाने वाली संस्कृत का है। भारतीय साहित्य की एकता को स्थायी रखनेवाला यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण कारण है, क्योंकि इस साहित्य का रूप सदैव अपरिवर्तित रहा और इसने स्थान और काल की सीमाओं का उल्लंघन करके भी भारतीय एकता को संभव बना दिया, इसलिए हमें पूरा प्रयत्न करना चाहिए कि संस्कृत का प्रभाव कम न होने पाए। इसके साथ ही हमें अंग्रेजी से भी अपना सम्पर्क बनाए रखना चाहिए। भारत की सांस्कृतिक एकता की जड़ें बहुत गहरी हैं, क्योंकि विभिन्न साहित्यों पर समान धर्म और समान सांस्कृतिक आंदोलनों ने अपनी अमिट छाप छोड़ी है और दूसरे तमिल और उर्दू को छोड़कर सभी भारतीय भाषाओं का उद्भव संस्कृत से ही हुआ है।

उन्नीसवीं सदी तक साहित्य की शैली का आदर्श सभी भाषाओं में एक ही सूत्र से प्रेरित रहा और उसने हमारे सभी साहित्यों पर प्रभाव डाला। विचारों में या साहित्यिक शैलियों के विकास में चाहे जितना अंतर रहा हो, वे सब वस्तुतः संस्कृत विचारों पर ही आधारित थे और बहुत ही मिलते जुलते थे। प्राचीन समय में लोग संस्कृत को प्रत्यक्ष रूप से पढ़ सकते थे, किन्तु जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार दूसरे वर्गों तक होता गया परिवर्तन की आकांक्षा को टाल देना संभव न रहा, फिर भी उस युग का प्रभाव इतना अभिभावी था कि आज भी देश की राजनैतिक एकता के लिए हम उसी से प्रेरणा प्राप्त करते हैं। धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन आया और उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी को वह स्थान मिल गया, जो हाल में किसी दूसरी भाषा को नहीं मिल सका है। अंग्रेजी प्रायः एक विश्व भाषा थी। पूरी दुनियां में यह बोली जाती थी और अनेक राष्ट्रों से हमारा सम्पर्क उसके द्वारा स्थापित हुआ। अंग्रेजी एक व्यापक भाषा है और बहुत समय तक उसकी ऐसी स्थिति बनी रहेगी। यह ठीक है कि भाषाएं समय-समय पर बदलती रहती हैं पर अंग्रेजी ने निस्संदेह हमारी संस्कृति पर प्रभाव डाला है और हमारी जीवन-पद्धति को हर तरह से प्रभावित किया है। यह बहुत समय तक ऐसा ही प्रभाव डालती रहेगी। ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली और ब्रिटिश जीवन पद्धति का प्रभाव इतना गहरा है कि यद्यपि हिन्दी को अब राष्ट्रभाषा के रूप में मान लिया गया है तथापि दूसरी भाषाओं के प्रसंग में उसे वही स्थिति कभी भी प्राप्त न होगी जो संस्कृत और अंग्रेजी को प्राप्त थी। पिछले सौ वर्षों में अंग्रेजी का इतना प्रसार हुआ है जितना किसी दूसरी भाषा का नहीं हुआ। इसका प्रभाव अनिवार्य भी था। परन्तु हमें एक बात नहीं भूलनी चाहिए कि जब हमने अंग्रेजी को अपना लिया तब भी संस्कृत का प्रभुत्व समाप्त नहीं हो गया। संस्कृत साहित्य को समझना कठिन नहीं है। आज इसका बड़ा ही महत्व है, क्योंकि इससे विचारों और संस्कृति की एकता की पुष्टि में बड़ी सहायता मिलती है। यह बहुत संभव है कि हिन्दी का रूप उत्तरप्रदेश या मध्यप्रदेश की प्रादेशिक भाषा जैसा ही न रहे लेकिन आज की बुनियादी एकता दो भाषाओं के प्रभाव से

compiled and created by Bhartesh Mishra

आई है और आज-भी हम संस्कृत का उपयोग एक स्रोत के रूप में करना चाहते हैं और चूंकि बुनियादी एकता का बड़ा ही महत्व है इसलिए जबतक हम इन चीजों को सुदृढ़ नहीं करते तबतक हमें एक दूसरी भाषा के रूप में विचारों की एकरूपता के लिए अंग्रेजी से कुछ न कुछ सम्पर्क बनाए रखना ही होगा। यद्यपि अंग्रेजी से हमारा सम्पर्क पिछले एक सौ बीस वर्षों से ही है, फिर भी इसने हमें उच्चतर प्रेरणाएं प्रदान की हैं।

मेरा अपना विचार है कि एक बात बड़ी ही दुर्भाग्यपूर्ण है, इसमें बड़ी बरबादी भी होती है। हमारे पास देवनागरी लिपि है। तमिल और उर्दू को छोड़कर बाकी सभी भाषाओं को देवनागरी लिपि में लिखा जाना चाहिए। मैं नहीं जानता कि हमारे लिए संस्कृत को एक अखिल भारतीय भाषा बना देना किस कारण संभव नहीं है। हमें अपने जीवनकाल में ही इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए। मेरे विचार से सभी भाषाओं के प्रकाशन सबसे पहले संस्कृत में ही निकलने चाहिएं। यह हमारी एकता में बड़ा साधक और सहायक होगा।

—के०एम० पन्निकर

(रूपान्तर : नारायण प्रसाद पाँडेय)

: चार :

भारतीय साहित्य एक है और रहा है। इस तथ्य को प्रमाणित करने में मैं आपका समय नहीं लूंगा। वह बात सिद्ध है और स्पष्ट है। लेकिन जो प्रश्न अध्ययन और मनन का विषय हो सकता है, वह यह कि महाद्वीप जितने विशाल इस देश में, जहां सदा हर प्रकार का नानात्व व्याप्त रहा, सहस्राब्दियों के अंतराल में से अगर कोई अंतर्भूत ऐक्य संभव बना चला आया, तो उसका रहस्य और कारण क्या है। हर तरह के आघात और प्रहार इस देश ने भोगे हैं। इतिहास इसके प्रति कोई विशेष सदय नहीं रहा है। नाना जातियां यहां आई हैं और तहस-नहस मचाती आई हैं। लेकिन उस सब विभेद और विरोध को आत्मसात् करती हुई यहां की भावभूमि एक बनी रही है, निश्चय ही यह आश्चर्य और अनुसंधान का विषय है। लगता है जैसे मानवजाति के भाग्य लेख में यह भारत भूमि परम-समन्वय के सूत्रसाधन की प्रयोगस्थली रही है और इस देश का मानव संस्कृति के प्रति यही अवदान होनेवाला हो।

पर साथ ही दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह यह कि हज़ारों हज़ार वर्षों के अपने इतिहास में भारतवर्ष बीच में गिनती के कुछ ही वर्षों के लिए राजनैतिक रूप से अविभक्त रहा होगा, नहीं तो वह सदा ही बंटा-बिखरा रहा है। उसकी भौगोलिक सीमाएं फैलती सिमटती रही हैं और अंतरंग में नाना राज्य भी बनते-बिगड़ते और उठते-गिरते रहे हैं।

संक्षेप में भारत की एकता उसकी राजनीतिक अनेकता में से सम्पन्न होती आई है। यह एक अनोखी बात है और बेहद विचारणीय है।

राष्ट्र तो सब जगह एक हैं, लेकिन एक वे राष्ट्रवाद और राज्यवाद की भूमिका पर हैं। यानी राजनीतिक उथल-पुथल उस एकता को तोड़ मरोड़ देती है या वह राष्ट्रवादी एकता दूसरे राष्ट्रवाद के टक्कर में आकर स्वयं अस्त-व्यस्त हो जाती है।

भारत के साथ ऐसा कुछ घटित नहीं हुआ। राष्ट्रवाद का हुंकार कभी यहां ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ कि वह दूसरों के लिए चुनौती बन आए और राष्ट्रविस्तार और साम्राज्य-विस्तार के लिए चल पड़े। बल्कि उलटे यह देखने में आया कि अमित सामर्थ्य रखते हुए भी भारत का देश मानो खुला क्षेत्र था, जहां दूसरे लोग लोभ और लालच में लूटमार करते हुए भी घुसे चले आ सकते थे। पर परिणाम सदा ही यह हुआ कि बाहर से चढ़ाई चढ़कर आनेवाले ये लोग कुछ दिनों बाद यहां की प्रकृति में रम रच रहे हैं और यहां की संस्कृति को उच्छिन्न कर पाने की जगह उसे और सम्पन्न करने के ही काम आ गए। यह भारत की अपनी भावभूमि की विशेषता रही है और यदि यहां का साहित्य एक है तो इसलिए कि उस भावभूमि से वह बिछुड़ा नहीं है, प्रत्युत वहीं से अनुप्राणित हुआ और उसीको अभिव्यक्ति देता रहा है।

भारत की राजनीतिक अनेकता और सांस्कृतिक एकता के अटूट इतिहास को आमपास रखकर देखने से कुछ परिणाम हाथ आते हैं :

(एक) भारतीय मनोभूमि प्रकृति से धर्मनीतिक है। परिस्थितियों की विवशता तक राजनीतिक उद्बोध उसे स्वीकार्य है। आगे महत्वाकांक्षा उसकी राजनीतिक नहीं है।

(दो) नीति-रीति के नियमन के लिए राज्य के कानून अधिक सामाजिक मान्यता पर यहां अधिक बल और अवलंब है।

(तीन) संस्थाएं जिनके द्वारा लोकजीवन व्यवस्थित और संतुलित रखा गया, सत्ता प्रधान न होकर भाव प्रधान हैं।

(चार) देश की धारणा राज्य-केन्द्रित नहीं है। उसके प्रति मातृ-भाव, तीर्थ-भाव जगाया गया है। चारों दिशाओं में भारत की सीमा पर तीर्थ धाम हैं और उनकी यात्रा ज्ञानार्जन से अधिक भक्ति साधना की प्रक्रिया है।

(पांच) श्रेष्ठता का भाव धर्मोन्मुख है, लोकोन्मुख नहीं है। संत-साधु वहां आदर और पूजा के केंद्र हैं। राजा और विजेता उतने नहीं। कर्म की प्रखरता और प्रबलता से भिन्न भाव की पवित्रता और शुद्धता में भारतीय रुचि सविशेष है। यहां का नीतिदाता ऋषि रहा है।

(छः) लोकमानस के आलंबन बनकर जो प्रतीक पुरुष प्रतिष्ठित हुए, वे लौकिक महिमा से अधिक आत्मिक गरिमा से मंडित थे। वे पुराण पुरुष उदार धर्म-भावना के उदाहरण थे।

(सात) तीर्थ-धाम और तीर्थपुरुष, उनके दर्शन और चरित, इनसे भारतीय संस्कारों और मानों का निर्माण

compiled and created by Bhartesh Mishra

हुआ। फिर राजन्य वर्ग से उसी प्रकार के आचरण की अपेक्षा रखी गई।

इस तरह भारतीय मानस राजनीतिक उथल-पुथल के अधीन गिरता उठता नहीं रहा। उसके आदर्श भी उस तरह झकोले नहीं खाते रहे। वे अडिग और स्थायी बने रहे। उसके मूल्य मानवीय रहे और प्रादेशिक और एकांगी नहीं बन पाए। सामयिक से अधिक वे नैतिक और शाश्वत रहे।

इन मूल्यों को सकर्मक नहीं कहा जा सकता। यह नहीं कि कर्म की यहां मंदता थी। राम और कृष्ण कोई बनवासी ऋषि नहीं थे और यही दोनों चरित्र भारतीय धर्म के दो ध्रुव हैं। लेकिन राम का वह रूप भारतीय मानस को पकड़ता है जहां वह कृतार्थभाव से राज्य का अधिकार छोड़ जाते हैं। उसी तरह कृष्ण का बालरूप ही भारत के लिए सर्व-निमोहन बना हुआ है। दोनों जगह योद्धा प्रधान नहीं है, गौण है। और अर्जुन को गीता के उपदेश से रणोद्यत बनाकर भी कृष्ण स्वयं सारथी रहते और युद्ध से उत्तीर्ण बने रहते हैं।

कर्म की जबकि मंदता नहीं रही, तब भारतीय मनीषा का मूल्य अवश्य उससे उत्तीर्ण रहा है। बाहर यहां से कोई विजेता नहीं गया, अनेकानेक धर्म के संदेशवाहक अवश्य गए। बौद्ध-विचार बाहर जाकर जड़ जमा फैला, हिंदुत्व के प्रभाव दूर-दूर तक पहुंचे तो यह किसी लौकिक जय-यात्रा का परिणाम नहीं था। तथापि यह प्राणों की सम्पन्नता ही थी जिसके कारण ये शांति-वाहक धर्म के दूत भारतीय विचार और संस्कृति के तत्व को दूर देशांतर में ले गए। कर्म का प्रवेग अवश्य नहीं था, पर भीतर से उठता हुआ भाव का आवेग था, जिससे भारतीयता का विस्तार हुआ था। साम्राज्य विस्तार से यह बिलकुल ही भिन्न प्रकार की चीज़ है और यदि पहले का साधन शस्त्र है तो दूसरे का साधन शास्त्र है। राजनीति सेना की मुहताज हो, संस्कृति का संदेश साहित्य का मौन शब्द ले जाता और दूर-दूर तक बो जाता है।

साहित्य के लिए प्रतिपक्ष नहीं है। इसलिए उसमें सामंजस्य का ही विस्तार होता है। संस्कृति में ललकार होती ही नहीं। वह सदा पूर्ति देती और पूर्ति खोजती है। उसीको अपने श्वास-निश्वास में लेकर चलनेवाला साहित्य किसी के लिए अनात्मीय नहीं रहता।

भारत में अलग-अलग जातियां रहीं, भाषाएं रहीं और रहन-सहन के अलग और तरीके भी रहे हो सकते हैं। पर कथा-गाथाएं और काव्य पुराणों के द्वारा एक ही मानव-धर्म यहां व्याप्त बना रहा। आरोपित आदर्श उसको ढंग या उखाड़ नहीं सके। साहित्य उसी स्रोत में प्राण पाता रहा और प्रदेश विशेष की या व्यक्ति-विशेष की विशेषताओं को लेकर वह कितना भी विविध और विचित्र बनकर प्रगटा हो, मूलतः ध्रुवनिष्ठ रहा। रूप आकार और शैली की सब विविधताओं में खिलकर भी वह केंद्रित भाव से च्युत नहीं हुआ। और सब जगह उसी मानव मूल्य की प्रतिष्ठा का उपकरण बना रहा।

इस देश में कोई एक केन्द्रीय राज्य न होने के कारण व्यवस्थित रूप से किसी एक भाषा की भी आवश्यकता नहीं रही। लोग आते-जाते थे, परस्पर आदान-प्रदान खूब था। चारों धामों की यात्रा मानो हरेक के लिए आवश्यक थी। इस तरह सदा ही कोई न कोई एक माध्यम रहा जिससे यह परस्परता उत्तरोत्तर पनपती और फलती फूलती रही। विद्वानों के लिए संस्कृत, जनसामान्य के लिए इस या उस रूप की प्राकृत। लेकिन ये भाषाएं राजकीय माध्यम के रूप में व्यवस्थित नहीं थीं, केवल प्रचलित थीं। यही कारण है कि उन सार्वजनीन माध्यमों के रहते भी प्रादेशिक भाषाओं पर तनिक भी दबाव नहीं आया, वे अपनी जगह युगपत् साहित्य से भरपूर होती चली गई। राम और कृष्ण के काव्यचरित्र स्वतंत्रभाव से रचे गए लगभग सभी भाषाओं में आपको मिलेंगे। अमुक किसी माध्यमिक भाषा पर राजकीय बल और आग्रह न था, इसलिए प्रतिस्पर्धा का प्रश्न ही कभी नहीं उठा, हार्दिक और निर्बंध दान-प्रतिदान चलता रहा। यही कारण है कि बिना किसी केन्द्रीय और राजकीय प्रयास के भी भारतीय साहित्य, विभिन्न भाषाओं में परस्पर पूरक और सहयोगी रूप में विकास पाता गया। वैदिक काल से अब इधर उन्नीसवीं सदी के आरंभ तक यह प्रक्रिया अजस्र चलती रही। इसमें एक प्राकृतिक नियम काम कर रहा था और किसी कृत्रिम प्रयास ने विशेष बाधा नहीं डाली।

अंग्रेजों के और साथ अंग्रेजी के आने से पहली बार इस प्रक्रिया में विघ्न उपस्थित हुआ। यह आक्रमण अलग तरह का था। अंग्रेज यहां राजा नहीं बने, सम्राट् बने। भारत उन्हें उप-निवेश था। इस तरह यहां का रंग लेने के बजाय उन्होंने अपने आधिपत्य और अपना रंग-ढंग दिया। देश की नई धारणा उनके कारण भारतवर्ष को प्राप्त हुई और वह राजकीय और प्रतिस्पर्धी (एक्सक्ल्यूज़िव) धारणा थी। एक छत्र के नीचे सारा देश आया और एक राजनीतिक व्यवस्था बनी। काफी दिन वहां अंग्रेज लोग रहे और इस काल में जैसे वह प्रक्रिया जो सदियों से भारत में भीतर ही भीतर अपना काम करती रही थी, मानों रुक गई, सर्वथा स्थगित तो वह नहीं हुई। भारतीय प्रकृति आत्म-संरक्षण में मोर्चा लेने को बारबार उठी। इस संघर्ष की इति तब हुई जब गांधी जी के नेतृत्व में भारत ने स्वराज्य पाया। गांधी भारती की अंतः प्रकृति के मूर्त प्रतीत ही थे। अनुभव हुआ कि उनके व्यक्तित्व में यह देश समन्वित रूप से एक और समग्र और ज्वलंत बन आया है।

गांधी युग में भारत की सभी भाषाओं का साहित्य एकप्राण और एकतान होकर उत्कर्ष की ओर उठा। वह उत्कर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है, लेकिन स्वराज्य आने के साथ गांधीजी को देश ने खो दिया। तबसे जान पड़ता रहा है कि जैसे वह महत् भाव ही बीच से उठ गया है, जो सबको एक दूसरे के निकट आने और उत्सर्ग होने की प्रेरणा देता था। सांस्कृतिक से राजनीतिक चेतना मानों ऊपर आ गई है और भाषाओं में स्वरक्षा और स्वमान की चिंता पैदा हो आई है। भाषाओं की विविधता जो अब तक ऐक्य भाव को संभाल रही थी, अनैक्य का कारण बन चली। उन्हें लगने लगा है कि जैसे सबके प्रति एक सी विदेशी ऐसी अंग्रेज़ी भाषा के सहारे उनमें आपस में

compiled and created by Bhartesh Mishra

समता बनी भी रह सकती है, उसके अभाव में कहीं एक कोई सब पर छाने न लग जाय। सांस्कृतिक भाव की मंदता के द्वारा यह राज कारणीय अहमहमिका मनों पर सवार हो आई है और भाषा फटाव के काम में लाई जाने लगी।

अब स्वराज्य है और देश के पास अपनी केन्द्रीय व्यवस्था है। यह सुविधा तमाम इतिहास में बहुत ही कम भारत देश के पास हो पाई है। इसीलिए यह प्रश्न है कि क्या किया जाय जिससे भारत के प्राणों की और साहित्य की मूलगत एकता प्रगट और पुष्ट हो। खंडितता का भाव देश से निर्मूल हो और महदुद्देश्य का आविर्भाव हो।

पिछले विश्लेषण में हमने देखा कि साहित्य, संस्कृति कुछ नाजुक चीजें हैं। बल के साथ उनका योग नहीं बैठता है। राज्य बहुत बलशाली संस्था है। बल के लाभ और अलाभ दोनों ही हैं। किन्तु यह संभव होना चाहिए कि अलाभ बचाया जा सके और संस्कृति के पक्ष में बल का लाभ मात्र ही पहुंचे।

राज्य का धर्म-निरपेक्ष रहना ही उचित है। अमुक नामधारी संस्कृति के प्रति भी उसे निरपेक्ष रहना होता है। राज्य का काम अधिकांश भौतिक है। मानसिक और सांस्कृतिक को उसे कम ही छूना और छेड़ना चाहिए। भारतीयता कुछ उसी पद्धति से काम करती रही है। ज्ञानदान और नीतिदान ऋषियों का काम रहा है। राज्य शक्तिभर धन आदि का अर्पण भले करते रहे हों, लेकिन ऋषि मानवनिष्ठ रहे हैं, राजनिष्ठा को उन्होंने अपना स्वधर्म नहीं बनाया है।

विश्व की प्रगति आज अजब जगह पर आ गई है। दुनियां छोटी पड़ रही है और कोई अपने को अलग और अकेला नहीं रख सकता है। ऐसी हालत में राज्य की कल्पना ने विशाल रूप धारण किया है। ईश्वर सर्वव्यापक होता था। अब सोचा जाता है कि राज्य सर्वव्यापक हो। इस धारणा पर संगठन बड़े से बड़े बन रहे हैं लेकिन वह सहजभाव से छावनियों में परिणत होते देखे जाते हैं। एक विचार उठा था कि राज्य समाज में विलीन हो जाय और स्वयं में अनावश्यक हो जाय। आदर्श रूप में उस विचार को छोड़ा तो अभी तक नहीं गया है। लेकिन बीच में मानो राज्य को सर्वव्याप्त और सर्वकल्याणीय शक्ति के रूप में स्वीकार करना मान्य बन गया है। उस कारण विश्व की स्थिति मानों संकट की भी आ बनी है। लगता है उस राह से अगर दुनियां की एकता आनी हो तो फिर युद्ध की वैतरणी को पार करना होगा। लेकिन विज्ञान की उन्नति इतनी हो उठी है कि युद्ध शुरू हुआ तो उसका दूसरा किनारा मिलने वाला नहीं है। बीच में ही सब स्वाहा हो जाएगा।

इस हालत में संभव हो सकता है कि संगम भारतीय साहित्य की भागवत एकता को पहचानकर उसे पुष्ट और प्रबल बनाने के उद्यम द्वारा दुनियां के सामने वह राह भी दिखा आए, जिससे संकट कटे। सहअस्तित्व बढ़कर सद्भाव और सहयोग में परिणत हो और राष्ट्रों के बीच सुरक्षा और शस्त्रास्त्र की पंक्ति अनावश्यक हो जाय।

भारतीय साहित्य राज्य के लिए आशीर्वाद रूप भले रहा हो, उस पर निर्भर होकर नहीं रहा है। कारण, उसमें मानव की प्रतिष्ठा है, सत्य की अनवरत शोध और उसका निर्भीक निदर्शन है। लोकव्यवहार में वह धर्म के अधिष्ठान की पीठिका के समान है। संक्षेप में राजनीति के समक्ष वह लोकनीति का प्रतिस्थापन है।

यदि भारती संगम भारत की सब भाषाओं और साहित्यों में आदान-प्रदान की वे प्रणालियां खोल सके, जिनसे परस्पर परिचय और प्रीति प्राप्त हो, साहित्यकारों को सम्मिलन और सहचिंतन के अवसर आएं, अनुवादों द्वारा वे निकट बनें—यह सब यदि शक्ति की राजनीति से मुक्त रहकर संगम कर सके तो संभव है वह एक नई सांस्कृतिक शक्ति को उदय में ले आए, जो समय पर राजनीतिक आवेशों और अभिनिवेशों पर अंकुश का काम दे।

साहित्य अकादेमी जैसी संस्था के बाद और अतिरिक्त भी यदि भारती संगम की उपयोगिता है तो वह यही कि एक बड़े पैमाने पर जनमानस में वह सांस्कृतिक चेतना को दीप्त करे और लोक-नेताओं को आदर्श की ओर उठने की प्रेरणा देने के लिए उपयुक्त पृष्ठबल का निर्माण कर सके।

राज्य को उसके बल को आधार में लेकर न चलने की प्रक्रिया ठेठ भारतीय है, दूसरी जगह शायद वह नहीं मिलेगी। आधुनिक काल में गांधीजी ने उसका सफल प्रयोग करके दिखलाया है। साहित्य का काम शुद्ध मानवशक्ति से ही चल सकता है। सत्ता और संस्था का सहारा लेने पर मानो वह शक्ति मानव से दूर और उलटे चलकर तंत्र-यंत्र की बनती और संस्कृति सेवा के अयोग्य हो जाती है। यह पहचान कर संगम ने अपना काम किया तो बहुत से खतरों से बचकर वह भारत के दान को दुनियां के सामने लाने का श्रेय पा सकेगा।

—जैनेन्द्र कुमार
(हिन्दी में मौलिक)

आज हमारे लिये सामान्य राष्ट्रीय भाषा का उतना ही महत्व है जितना विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं का। सभी भाषाओं और उनके साहित्य का अपना-अपना स्थान है। सभी भाषायें देश की सर्वांगीण उन्नति के लिये समान रूप से आवश्यक हैं। सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्र में कार्य करके ही जनसाधारण के विचारों तथा भावों का नियमन किया जा सकता है। इस नियमन का आधार राजनीतिक न होकर मानवीय ही हो सकता है।

—डा० राजेन्द्र प्रसाद
('भारती संगम' के उद्घाटन के अवसर पर)

compiled and created by Bhartesh Mishra

हमारा रहन-सहन : एक संगोष्ठी

यद्यपि हम पिछले अंक में यह घोषणा कर चुके थे कि उस अंक से यह संगोष्ठी समाप्त की जा रही है, तथापि इस बीच हमें दो प्रदेशों के बारे में बड़े ही रोचक लेख प्राप्त हुए हैं और हम इन लेखों को संस्कृति के पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं। प्रो० मुजीब ने रहन-सहन के दो बड़े ही महत्वपूर्ण पहलुओं को उठाया है। उन्हें खेद है कि भोजन अब बिलकुल ही संस्कृति का अंग नहीं रहा है। न तो खाने-पीने के हमारे पुराने तौर तरीके ही अब सभ्य समाज में अपनाए जा रहे हैं और न, भोजन की—विशेष खाद्य-पदार्थों की—विशेषताओं को संरक्षित करने की ही कोई कोशिश की जा रही है। हम संस्कृति के प्रति इतने विरक्त हो गए हैं कि हमने खाने-पीने के अंग्रेजी तरीके अपना लिए हैं। दूसरे, पोशाक में भी अंग्रेजी प्रकार के वस्त्रों की बाढ़ से एक निगति प्रारम्भ हो गई है। इसी विषय पर 'विचारक' की एक टिप्पणी भी हम संस्कृति के इसी अंक में दे रहे हैं। हमारा विश्वास है कि हमारे प्रबुद्ध पाठक इन विषयों का मननपूर्ण अध्ययन करेंगे। लोक मंच के अन्तर्गत हम उनके पत्रों का स्वागत करेंगे।

—सम्पादक

: एक :

उड़ीसा

उड़ीसा का सामाजिक ढांचा वही है, जो शेष भारत का है। जाति व्यवस्था भी वैसी ही है। पहाड़ी क्षेत्रों में बसने वाली वनजातियों ने अपनी संस्कृति को आज तक अप्रभावित रखा है, परन्तु उनके चारों ओर की भारत-आर्य संस्कृति का उन पर कोई असर न पड़ा हो ऐसी बात नहीं है। साथ ही जो लोग अपने को सगर्व भारत-आर्य संस्कृति का उत्तराधिकारी मानते हैं, उनकी संस्कृति पर भी इस महान् भूमि में आने वाली विभिन्न धाराओं ने प्रभाव डाला है।

उड़ीसा में कम से कम उन तीन पुराने राज्यों का क्षेत्र आता है, जिनका उल्लेख महाभारत में मिलता है। वे तीन राज्य हैं: कलिंग, उत्कल और ओड्र देश। इन राज्यों की सैन्य शक्ति और वैदेशिक व्यापार की गौरव गाथायें सुप्रसिद्ध हैं। इतिहास हमें बताता है कि इस प्रदेश के लोग अशोक की आक्रामक सेना के साथ बड़ी वीरतापूर्वक लड़े और अन्त में अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद अहिंसा को अपना लिया। जहां तक वैदेशिक व्यापारों का सम्बन्ध है, अब भी कई पूर्वी देशों में बहुत से जनसमूह ऐसे हैं, जिनके नाम किलिंग या कलिंग पर आधारित हैं और वहां भी श्रीक्षेत्र (जगन्नाथपुरी) के नाम पर नगर हैं। अशोक के बाद कलिंग नरेश खारवेल ने अपने राज्य को कलिंग की सीमा के बाहर भी बढ़ाया। इस प्रकार इस प्रदेश के लोग इस प्रदेश से बाहर की संस्कृतियों के भी सम्पर्क में आये। इन संस्कृतियों ने इस प्रदेश की संस्कृति को भी अवश्य ही प्रभावित किया होगा। जैसा कि हमें अपने ऐतिहासिक अनुभव से विदित है, पड़ौसी पर जय-पराजय के बाद उसके राज्य से जो सम्पर्क स्थापित होता है, वह विजेता और विजित दोनों की ही संस्कृतियों को प्रभावित करता है। इसके अलावा आदिवासियों की संस्कृति ने भी इस प्रदेश की संस्कृति पर बड़ा प्रभाव डाला होगा। इस प्रकार उड़ीसा का आज का सांस्कृतिक ढांचा अनेक सांस्कृतिक धाराओं के समन्वय का प्रतिफल है। जगन्नाथ की भक्ति सम्बन्धी शाखा में कुछ लोग आदिवासी संस्कृति के तत्व पाते हैं। इसके अलावा इस संस्कृति के कुछ और अवशेष संस्कारों आदि में भी पाये जाते हैं। जैसे धान में फूल आने पर जो पूजा कार्तिक के महीने में होती है, उसे आदिवासी संस्कृति का अवशेष माना जा सकता है। कार्तिकी पूर्णिमा को सोला नावों का पानी में उतारा जाना और आषाढ़, कार्तिक, माघ और वैशाख इन चार पवित्र महीनों का नाम लिया जाना यह बताता है कि समुद्र में जाने वाली नावों को उतारने के लिए ये उपयुक्त महीने थे। सत्यवीर की पूजा हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति के संश्लेष का प्रतिफल है।

यद्यपि उड़ीसा में जाति व्यवस्था विद्यमान रही है, फिर भी वहां के जीवन-दर्शन का सार जगन्नाथ दास की गीता की इन दो पंक्तियों में मिल सकता है:—

सकल घटे नारायण,
वसन्ति अनादि कारण।

compiled and created by Bhartesh Mishra

अर्थात् अनादि हेतु नारायण घट-घट में निवास करते हैं इस प्रकार सभी समान समझे जाते थे। यह सिद्धान्त जगन्नाथपुरी के मन्दिर में अब भी मान्य है, क्योंकि वहां जाति-पांति का कोई भेदभाव नहीं बरता जाता। यह तो पीछे चलकर सवर्ण हिन्दुओं ने प्रवेश द्वार पर यह लिखवा कर टंगवा दिया है कि यहां केवल सवर्ण हिन्दू ही प्रवेश कर सकते हैं। भोई भाई के, जो एक हरिजन थे, गीत आज भी सर्वत्र गाये जाते हैं और उन्हें 'संत' माना जाता है। उड़ीसा का विस्तृत दौरा करते समय मुझे एक मुसलमान द्वारा किए जाने वाला हिन्दू शास्त्रों का पाठ सुनने का सुखद अवसर मिला है।

समानता के इस बुनियादी सिद्धान्त ने 'जिओ और जीने दो' की नीति को जन्म दिया। 'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धान्त के अनुसार चलने वाले जनसाधारण की भौतिक जरूरतों सम्बन्धी आत्मनिर्भरता ने उड़ीसा की अपनी जीवन पद्धति के विकास में योग दिया है।

व्यापार की पुरानी परम्परा भी जीवित रही। पर सम्भवतः बौद्ध और जैन प्रभावों के कारण उसका रूप उतना आक्रामक नहीं रहा। इसके बाद प्रेम और भक्ति की पुनीत धारा से सबको आप्लावित कर देने वाले चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव हुआ। इनके प्रभाव ने भी 'थोड़े में संतोष' वाली रहन-सहन को और भी सुदृढ़ किया। इसने कला और साहित्य को भी बढ़ावा दिया। उड़ीसा की एक खास सांस्कृतिक विशेषता यह है कि देहाती भी नृत्य और नाटक का आनन्द लेते हैं। संगीत के प्रति इस अनुराग में पूरे प्रदेश में शास्त्रीय ज्ञान को बढ़ावा दिया है। हर गांव में पुराणों के अध्ययन के लिए एक भगवत तुंगी (क्लब) होता था। आज भी इसके अवशेष हैं। चैतन्य की भक्तिशाखा ने उड़ीसा की इस सांस्कृतिक विशेषता को और भी पुष्ट किया। किन्तु ऐसा लगता है कि चैतन्य के उपदेशों ने भौतिक समृद्धि की आकांक्षाओं का संहार कर दिया। गांवों में सहज संतोष की इस वृत्ति की झांकी आज भी देखने को मिल सकती है।

यूरोपीय जातियों के पदार्पण तक यह जीवन-पद्धति चलती रही। पहले व्यवसाय पर और फिर जाति पर आधारित पुरानी समाज व्यवस्था को मुसलमानों के आने से ही आघात पहुंचा था, क्योंकि वे किसी भी सामाजिक बंधन को न मानते थे। जाति-व्यवस्था का शिकंजा अंग्रेजों द्वारा खोले गये विद्यालयों में सभी वर्गों के बच्चों के प्रवेश के साथ-साथ ढीला पड़ गया। अस्पृश्य जातियां भी स्पृश्य की सीमा में आ गई।

भौतिक समृद्धि का आग्रह करने वाली पाश्चात्य सभ्यता ने उन लोगों की आंखों में भी चकाचौंध पैदा कर दिया, जो अब तक सादाजीवन में सहज संतोष करते रहे थे। उन लोगों ने नये ढांचे में समृद्धि और नाम प्राप्त करने वाले लोगों की सफलता की ओर ईर्ष्या के साथ देखना शुरू कर दिया। इसने एक नई जाति को जन्म दिया।

आज के विद्यालयों में धार्मिक पृष्ठभूमि के अभाव के कारण सहज संतोष की भावना अब बहुत क्षीण हो गई है। कुछ समाज सुधारकों ने भी भौतिकता की ओर जो आग्रह दिखाया, वह भी इस प्रवृत्ति का एक कारण है। अस्तित्व के लिये संघर्ष की भावना के पनपने और पारम्परिक विश्वास के क्षीण हो जाने के साथ-साथ कर्म के सिद्धान्त (अर्थात् प्रारब्ध कर्म को मानकर चलने वाले भाग्यवाद पर) लोगों की श्रद्धा डिग गई है। फिर भी अब भी एक अपरिवर्तनशील वर्ग ऐसा भी है, जो परम्परागत जीवन-पद्धति में ही विश्वास करता चला आ रहा है। यह वर्ग कब तक अपनेविश्वास के साथ रह सकेगा, यह भविष्य ही बतायेगा।

—पी० पारिजा

(रूपान्तर : राजेन्द्र द्विवेदी)

: दो :

उत्तर प्रदेश

उत्तर प्रदेश की संस्कृति वरेण्य व्यक्तियों की संस्कृति है। सहज अभिजात लोगों की संस्कृति है। उन्हें विश्वास है कि वे सबसे ज्यादा परिष्कृत भाषा बोलते हैं। सर्वोत्तम व्यंजनों का स्वाद लेते हैं। सबसे ज्यादा भव्य पोशाक पहनते हैं। उन्हें यह भी विश्वास है कि उनकी बातचीत और तौर-तरीके ऐसे हैं, जिन पर बाकी सभी लोगों को ईर्ष्या है और यह ईर्ष्या होनी भी चाहिए। प्रकृति ने उनको इस प्रकार की श्रेष्ठ स्थिति के लिए चुना है और उन्होंने यह स्थिति अपनी संस्कृति से प्राप्त की है।

यह उक्ति अतिशयोक्ति सी लगती है, लेकिन वास्तव में यह न्यूनोक्ति है। लखनऊ का कोई भी नगर-भक्त नागरिक इस उक्ति को प्रमाणित कर देगा और उत्तर प्रदेश का कोई भी नागरिक इसका प्रत्याख्यान नहीं करेगा।

उत्तर प्रदेश की संस्कृति का सुदृढ़ केन्द्र-बिन्दु वहां की भाषा है। वह एक सर्वतोभद्र साधन है। विनम्रता, सौजन्य और समादर की भावनाओं के प्रकाशन में उसकी सामर्थ्य फारसी जैसी अमोघ है। परिहास, चुटकी और व्यंग के माध्यम के रूप में वह फारसी से भी आगे बढ़ जाती है। किसी दूसरी भाषा में गालियों की शब्दावली भी इतनी प्रचुर मात्रा में न मिलेगी। कहीं भी इस शब्दावली का प्रयोग जानबूझ कर इतने संयत रूप में विकसित नहीं किया गया। भाषा की इन सब उपयोगिताओं को एक साथ ध्यान में रखते हुए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उत्तर प्रदेश में सबसे श्रेष्ठ ललित कला आलाप-कला है। प्रदेश वासियों की सांस्कृतिक उच्चता का मूल कारण यही है। बाहर से आने वाले हर एक व्यक्ति को वे आलाप (या शास्त्रार्थ) की प्रतियोगिता में चुनौती देते रहे हैं। उन्हें अपनी विजय का सदैव विश्वास रहा है, क्योंकि उनकी भाषा कामधेनु ही है। स्वभावतः उनका जीवन-दर्शन है कि जो सबसे अच्छी तरह से बात चीत कर सकते हैं, वही जीवित रह सकने के लिए सबसे ज्यादा समर्थ हैं, क्योंकि कभी भी उन्हें लगत सिद्ध नहीं किया जा सकता।

उत्तर प्रदेश अपने भोजन में भी अग्रणी है। किसी भी प्रकार की मिठाई की बात आप सोचें, उत्तर प्रदेश में कोई न कोई ऐसी जगह जरूर है, जहां की वह विशिष्ट प्रकार की मिठाई

compiled and created by Bhartesh Mishra

सबसे ज्यादा अच्छी मानी जाती है। लेकिन और राज्यों की तरह उत्तर प्रदेशवासी अपने स्वाद में संकोर्ण नहीं हैं। बंगालियों की एक प्रसिद्ध मिठाई रसोगुल्ला है। तब तक इसे कोई नहीं जानता था, जब तक इसे 'रसगुल्ला' जैसा परिष्कृत नाम नहीं दे दिया गया और इसे भी उत्तर प्रदेश की विशिष्ट मिठाइयों में शामिल नहीं कर लिया गया। रसोई की चीजों में भी सामिष और निरामिष दोनों ही प्रकार के भोजनों की इतनी आकर्षक तालिका कहीं भी देखने को न मिलेगी। मसालेदार कबाब से ज्यादा स्वादु और क्या हो सकता है? क्या किसी को कहीं भी लखनऊ के पुलाव, मुतांजन और पराठा से ज्यादा स्वादिष्ट कोई भी चीज मिल सकती है। दुख यह है कि जिन लोगों ने कभी भी असली चीज का स्वाद नहीं लिया, उसकी बात करने लगते हैं और यह तक मान बैठते हैं कि वे उसे पका सकते हैं। उन्हें पकाने की कोशिश करने से कोई नहीं रोक सकता। नतीजा यह होता है कि चीजों और उनके नाम की बड़ी भारी गड़बड़ी पैदा हो जाती है। जो असली रसोइये हैं, वे गैर-जानकार और पाक-कला में अधकचरी पर हठात् अपने को जानकार समझने वाली गृहिणियों की भीड़ में खो जाते हैं। अब भोजन संस्कृति का एक तत्व रह भी नहीं गया है। जानकारी से उत्पन्न स्वाद से नहीं, बल्कि पाशविक भूख के कारण उत्पन्न स्वाद के साथ जो कोई भी चीज खाई जा सकती है, वही भोजन मानी जाने लगी है। इससे भी बुरी बात यह है कि भोजन थाली में से मुंह में ले जाने की एक प्रक्रिया मात्र रह गया है, जैसे कि भाषा संचार का माध्यम ही बनकर रह गई है। इसमें कुछ भी 'सुन्दर' होना जरूरी नहीं रह गया। आप खाते समय आवाज देकर खाना मांग सकते हैं। कौर का आकार अपनी-अपनी तबियत की बात हो गया है। आप चावल का 'टेनिस की गेंद जितना बड़ा गोला बनाकर उत्तर प्रदेश के बाजीगरों की तरह तेजी से गटक सकते हैं। आप आवाज करते हुए कौर चबा सकते हैं। आप अपनी अंगुलियां घी, दाल या शोरबे में सान सकते हैं। मेहमान कभी भी दी जाने वाली चीजों को स्वीकार करने में विनम्र अनिच्छा प्रकट नहीं करते। भोजन की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए वह कभी यह नहीं कहते कि वह बहुत खा चुके हैं। मेजबान कभी नहीं कहता कि वह जो कुछ खिला रहा है, बड़ा तुच्छ शाक-पात है। न वह यही मानता है कि मेहमान ने उसके यहां भोजन करके उसके उपर बड़ा अनुग्रह दिखाया है। हम संस्कृति के प्रति इतने विरक्त हो गए हैं कि हमने अंग्रेजों के खाने-पीने के तौर-तरीके अपना लिए हैं। उत्तर प्रदेश ने इस बाढ़ को रोकने की भरसक कोशिश की। यह बड़े ही खेद का विषय है कि भोजन संस्कृति का अंग अब नहीं रहा है।

पोशाक में भी, बाजार में अंग्रेजी कपड़े की बाढ़ आ जाने और प्रदेश की महिलाओं द्वारा ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा दिये जाने वाले भोजों के आमंत्रणों के स्वीकार किये जाने के बाद से निगति प्रारम्भ हो गई। शुक्र है कि उन्होंने यूरोपीय कपड़े नहीं अपनाये, पर वे अपनी अभिरुचियों को विकृत होने से न बचा सकीं।

उत्तर प्रदेश के विशिष्ट कपड़े छोड़ दिये गये और ब्रिटिश कपड़े अपनाये गये। इससे महिलाओं के वस्त्रों के सभी पुराने मानदंड व्यर्थ हो गए। हथकरघा उद्योगों को प्रोत्साहन दिये जाने और वस्त्रों में पुरानी डिजाइनों के आ जाने पर भी बुनियादी चीज में परिवर्तन नहीं आया। उत्तर प्रदेश की पोशाकें अब उतनी रंगीन नहीं रही हैं, जितनी पहले थीं। साड़ी की अपनी कोई निजी विशेषता नहीं है, क्योंकि वह सभी को आ जाती है और उसने उत्तर प्रदेश की संस्कृति को ही ढांप लिया है।

मानदण्ड निश्चित करने में विश्वास रखने वालों और उनका पालन करने वालों से तरह-तरह के प्रश्न पूछे जाते हैं। जैसे एक प्रश्न यह है कि उत्तर प्रदेश का क्या अभिप्राय है? क्या उसमें ब्रिटिश पूर्व के अवध का ताल्लुका अभिप्रेत है, या ब्रिटिश युग का पश्चिमोत्तर प्रान्त या संयुक्त प्रान्त? जब हम उत्तर प्रदेश की संस्कृति की बात करते हैं, तो क्या हमारा अभिप्राय यह होता है कि सहारनपुर से मुगलसराय और नैनीताल से झांसी तक के समूचे इलाके की संस्कृति एक जैसी ही है? उत्तर प्रदेश के लोग समझते हैं कि यह उत्तर प्रदेश को समाप्त करने का एक जाल है। संस्कृति की बात करते ही लखनऊ-वासियों की ओर ध्यान जाता है और लखनऊ हमेशा से उन्नत-अभिरुचियों और अपने आपको सबसे अधिक मानने के लिए प्रसिद्ध रहा है। लखनऊ को भी उसमें स्थित एक संस्कृति-गढ़ तक सीमित किया जा सकता है। यदि हम इस गढ़ में प्रवेश करें, तो हमें पता चलता है कि यह थोड़े से परिवारों का समूह मात्र है, उनमें से भी कुछ तो नाम को ही हैं, वास्तविकता में नहीं। इसीलिए प्रदेशवासी साधारणत: पूरे राज्य की बात करते हैं, किसी हिस्से की नहीं। विचारों की बात ज्यादा करते हैं, तथ्यों की नहीं। लेकिन उनका सबसे प्रिय तरीका है अपने आपको सर्वश्रेष्ठ बताना। वह यह सिद्ध कर देंगे कि उनके काम के आगे किसी की भी बिसात नहीं है। परिवर्तन और प्रगति उद्योग, और धन, उच्चतर आय और ज्यादा संतोष की समग्र सम्भावनाओं को वह बस अनुमान तक ही सीमित रखेंगे। वे नेता बन सकते हैं, और वे बहुत पिछड़ सकते हैं। वे सब कुछ कर सकते हैं, क्योंकि वे बात बना सकते हैं।

—मो० मुजीब

(रूपान्तर : राजेन्द्र द्विवेदी)

compiled and created by Bhartesh Mishra

विज्ञान के नए उपादान और नाटक

विष्णु प्रभाकर

प्रस्तुत लेख में हिन्दी जगत् के लब्धप्रतिष्ठ विचारक-लेखक श्री विष्णु प्रभाकर ने विज्ञान के प्रसंग में कलाओं और विशेषतः नाटक की समस्याओं पर एक विचारोद्बोधक चर्चा छेड़ी है। विज्ञान आ गया है और उसके लौट जाने की कोई आशा नहीं है। अभी हम विज्ञान के प्रभाव को आत्मसात् नहीं कर पाये हैं। विज्ञान ने मनुष्य को अपरिसीम साधन, सुविधाएं और शक्ति दी है। मनुष्य उनका दुरुपयोग और सदुपयोग दोनों ही कर सकता है। परन्तु इस शक्तिशाली वस्तु के सहज हो जाने से साधना की पवित्रता के नष्ट हो जाने की पूरी आशंका है। लाउडस्पीकर के प्रयोग के कारण अभिनेता दर्शक से उचित सम्पर्क स्थापित नहीं कर पाते। यह व्यक्तिगत सम्पर्क मानव की रसग्रहण शक्ति के घनत्व में अंतर ला देता है। यह बात सिनेमा और रेडियो दोनों पर लागू होती है। फिर भी लेखक का विश्वास है कि आज की कला की प्रवृत्ति स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर है और रेडियो ने इस प्रवृत्ति को काफी शक्ति दी है। इसी प्रकार भावों की सघनता और गहनता के क्षेत्र में सिनेमा भी अप्रतिम है। टेलीविजन के लिये रेडियो, सिनेमा और रंग-नाटक तीनों के सहयोगों की आवश्यकता का जिक्र करके लेखक ने उसकी विस्तृत संभावनाओं का विचार भविष्य के लिये छोड़ दिया है, क्योंकि अभी भारत में उसका सूत्रपात ही हुआ है।

विज्ञान के इन उपादानों का विश्लेषण करते हुए लेखक ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न और उठाया है : रेडियो पर सरकार का और सिनेमा पर धनिक वर्ग का अधिपत्य है और अधिकतर लोगों की मान्यता है कि रंगमंच का पुनर्निर्माण भी सरकार या शक्तिशाली धनिकवर्ग की सहायता के बिना नहीं हो सकता। लेखक की मान्यता है कि यह कला के लिये शुभ नहीं है। इस सम्बन्ध में हम पाठकों के विचार-पत्रों और प्रति-लेखों का सहर्ष स्वागत करेंगे।

—सम्पादक

प्रश्न उठाया गया है कि नाटक के क्षेत्र में विज्ञान के नए उपादानों (लाउड स्पीकर, ग्रामोफोन, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा आदि) ने जो योगदान दिया है, क्या इससे इन माध्यमों का जन-साधारणीकरण हो सका है ? और क्या इससे सांस्कृतिक स्तर का ह्रास या विकास हुआ है ?

इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट 'हां' या 'ना' में नहीं हो सकता।

मतभेद की काफी सम्भावना है। जब हम मतभेद की बात करते हैं तो स्वभावतः इस बात को भूल जाते हैं कि विचार अधिकतर सापेक्ष होते हैं। आज जब हम विज्ञान के नए उपादानों की चर्चा करते हैं, तो हमारी विचाराधारा पर वह प्रभाव अभी बना हुआ है जिसका आधार विज्ञान नहीं है। अर्थात् विज्ञान के प्रभाव को हम अभी आत्मसात् नहीं कर पाए। इस सम्बन्ध में तटस्थता से विचार करने वाले मनुष्य का जन्म अभी होना है।

नाट्य-कला एक ऐसा शक्तिशाली माध्यम है जिसकी वाणी श्रोता या दर्शकों तक सीधे पहुंचती है। और एक साथ ही यह अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ है। इसी कारण व्यतीत में इस कला पर राज्य का आधिपत्य रहा है। प्रत्येक शक्तिशाली दल ने इस कला के सहारे अपनी शक्ति को बढ़ाने का निरन्तर प्रयत्न किया है। कहते हैं कि इसकी शक्ति से डर कर ही औरंगजेब ने इस पर प्रतिबन्ध लगाया था। शक्तिशाली माध्यम से जहां लाभ होते हैं वहां हानि भी हो सकती है। लेकिन यह स्पष्ट है कि उस सम्भावित हानि के कारण उसकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। हम यहां उन कारणों में नहीं जाना चाहते, जिन्होंने इस शक्तिशाली कला को सदियों तक इस देश में बहिष्कृत या विकृत किए रखा। लेकिन यह स्पष्ट है कि किसी न किसी रूप में ही हो, चाहे वह लोक रंगमंच था या विकृत

compiled and created by Bhartesh Mishra

रंगमंच, यह कला जीवित रही। और अपनी शक्ति तथा उपयोगिता के कारण ही जीवित रही। आज जो राष्ट्रीय रंगमंच की पुकार चहुं ओर सुनाई देती है, वह भी इसी उपयोगिता को लेकर है। जन-मनोरंजन अपने आप में बहुत बड़ी उपयोगिता है, लेकिन नाटक तो मनोरंजन के साथ-साथ जन-जीवन का दिशा-निर्देश करने की भी अपरिमित शक्ति रखता है :

सन् 1930-1931 के आस-पास जब विज्ञान के एक शक्तिशाली उपादान सिनेमा ने भारत में प्रवेश किया तो तात्कालीन पारसी रंगमंच का उसी प्रकार लोप हो गया, जिस प्रकार सहसा भूकम्प के आ जाने से शक्तिशाली नगर जमींदोज हो जाता है। पारसी रंगमंच इतना विकृत हो चुका था कि उसके नष्ट हो जाने का विशेष दुःख नहीं हुआ। लेकिन कुछ दिन बाद वह धारणा अवश्य बनने लगी कि विज्ञान का यह नया उपादान रंग-नाटक को पुनर्जीवित न होने देगा। लेकिन आज तीस साल के बाद रंगमंच की जो पुकार सुनाई देती है, उसने इस धारणा को झुटला दिया है। यद्यपि अब भी समझदार लोगों को यह शंका है कि रंग-नाटक सिनेमा की तरह समर्थ और व्यापक नहीं हो सकेगा। रंग-नाटक की सीमाएं हैं, सिनेमा ने उन सीमाओं को नष्ट कर दिया है। वहां संकलन-त्रय का कोई बन्धन नहीं है। काल और स्थान उसके मार्ग की बाधा नहीं। किसी काल या स्थान का कोई भी दृश्य बड़ी सरलता से दर्शन के सामने प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त सिनेमा की नाट्य-कला को एक बहुत देन है, उसका क्लोज-अप। भावों की सघनता और गहनता के क्षेत्र में सिनेमा अप्रतिम है। जहां तक कला के जनसाधारणीकरण का सम्बन्ध है, सिनेमा रंग-नाटक से बहुत आगे है। एक ही चित्र का एक साथ सारे विश्व में प्रदर्शन किया जा सकता है।

इसका दूसरा पक्ष भी है। यह कला जनता तक पहुंच तो गई है, पर इस पर नियंत्रण सत्ता और लक्ष्मी के कृपापात्रों का ही रहेगा। इसके अतिरिक्त बहुत से विचारकों और कलाकारों का यह विश्वास है कि सिनेमा के हानिकारक प्रभाव ने रंग नाटक की कला को भी बहुत क्षति पहुंचाई है। उसकी कथावस्तु अधिकतर अतिरंजित सस्ती कामुकता और भद्दे मजाकों पर आधारित रहती है। अभिनय का स्तर भी प्रायः बहुत हल्का है और वह इसलिए कि वह जनता के बड़े से बड़े समूह को प्रभावित करना चाहता है। और यह मानना होगा कि जन-साधारण की कला-रुचि का स्तर अभी बहुत ऊंचा नहीं है। सिनेमा की होड़ के कारण नाट्यशालाओं के कर्त्ता-धर्त्ता नाटकों के स्तर को नीचे लाने पर बाध्य हो जाते हैं। जैसा कि चार्ल्स एल्सन ने, जिन्हें भारतीय रंगमंच का अच्छा ज्ञान है कहा है, 'वे अच्छे से अच्छे नाटकों में भी गीत, नृत्य, पार्श्व-गायन आदि के अलावा तड़क भड़क और चटकीली दृश्यावलियों को आवश्यक मानते हैं और कथानकों को निकृष्ट और अनावश्यक मोड़ देते रहते हैं। वे नाटकों में ऐसे तत्वों की मांग करते हैं जो उनकी दृष्टि में दर्शकों को प्रिय हैं। इस मांग के फलस्वरूप नाटककारों और निर्देशकों की उत्तम रचनाएं भी उपेक्षित हो जाती है।"

जहां तक हिन्दी सिने-रंगमंच का सम्बन्ध है हम इस तथ्य से साधारणतया सहमत हैं। लेकिन यह नियम नहीं है। बंगाल का चित्रपट इन कमजोरियों से मुक्त हो चुका है। हम यह नहीं कहते कि वहां सस्ते चित्र नहीं दिखाए जाते होंगे, लेकिन साधारणतया वहां के चित्रों में कला का स्तर बहुत ऊंचा होता है। और यह आवश्यक नहीं है कि रंगमंच के लिए उत्तम रचनाओं की अपेक्षा ही की जाए, लेकिन दो बातें निश्चय ही विचारणीय हैं। एक तो यह कि जहां तक अर्थ का सम्बन्ध है सिनेमा का क्षेत्र बहुत उत्पादक है और यह एक ऐसी स्वाभाविक कमजोरी है कि बड़े से बड़ा कला-साधक भी रंगमंच की उपेक्षा करके सिनेमा की ओर जाने के लिये बाध्य हो जाता है। दूसरा तथ्य जिसकी हम उपेक्षा कर सकते हैं वह यह है कि रंगमंच के कलाकार को बहुत सजग रहना पड़ता ह। उसका और दर्शक का सीधा सम्बन्ध है। जरा भी चूकने पर उसकी कला नष्ट हो सकती है। सिनेमा का कलाकार इस दृष्टि से बड़ा सौभाग्यशाली है। सौ बार एक दृश्य का अभिनय करने पर एक बार भी यदि वह उत्तम अभिनय कर लेता है, तो विज्ञान उसी को अमर कर देता है। लेकिन जहां तक कला-साधना का सम्बन्ध है सिनेमा का कलाकार रंग-नाटक के कलाकार के सामने छोटा पड़ जाता है। इसी तरह लाउड-स्पीकर के अधिकाधिक प्रयोग के कारण अभिनेता अपेक्षित स्वर-साधना नहीं कर पाते और तभी दर्शक से उनका उचित सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाता। यद्यपि जहां तक रस ग्रहण करने का सम्बन्ध है, रंग और सिने-नाटक में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता। जिस समय दर्शक रस ग्रहण करता है उस समय वह यह भूल जाता है कि उसके सामने चित्रपट है या स्वयं अभिनेता उपस्थित है। भूले बिना वह रस ग्रहण कर ही नहीं सकता, लेकिन व्यक्तिगत सम्पर्क मानव-मन की दुर्बलता है, इसलिए रस ग्रहण करने की शक्ति के घनत्व में अवश्य ही अन्तर पड़ सकता है। रंग-नाटक से दर्शक सम्भवतः अधिक रस ग्रहण कर पाता है। व्यक्ति-सम्पर्क के इस आकर्षक के कारण ही रंग-नाटक नष्ट नहीं हुआ है।

सिनेमा ने लोक-कला के रंग को भी फीका किया है, लेकिन जैसा कि हमने आरम्भ में कहा था, ये विचार निरपेक्ष नहीं हैं और विज्ञान की जिस गति से प्रगति हो रही है उससे यह बहुत सम्भव है कि कल को विचार करने की परिपाटी ही बदल जाए।

'रेडियो' विज्ञान का दूसरा वह उपादान है, जिसने नाट्य-कला को अतिशय प्रभावित किया है। उसकी उत्पत्ति और प्रगति पर विचार करना यहां असंगत होगा। इस माध्यम ने दृश्य स्वरूप-विधान को मात्र श्रव्य बना दिया है। पहले जन-साधारण रंगशाला में जाकर नाटक देख पाते थे, लेकिन आज नाटक स्वयं चलकर उनके घर पहुंच गया है। और उसने दर्शक को केवल श्रोता बना दिया है। जन-साधारणीकरण की दृष्टि से यह सिने-रंगमंच से भी बहुत आगे है। आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र से प्रसारित एक नाटक, एक ही क्षण में विश्व भर को एक साथ सुनाया जा सकता है। सिने-रंगमंच की तरह इस पर भी संकलन-त्रय का कोई

compiled and created by Bhartesh Mishra

वृक्षों की छाया में

शैलोज मुकर्जी की कला

दोपहरी की नींद

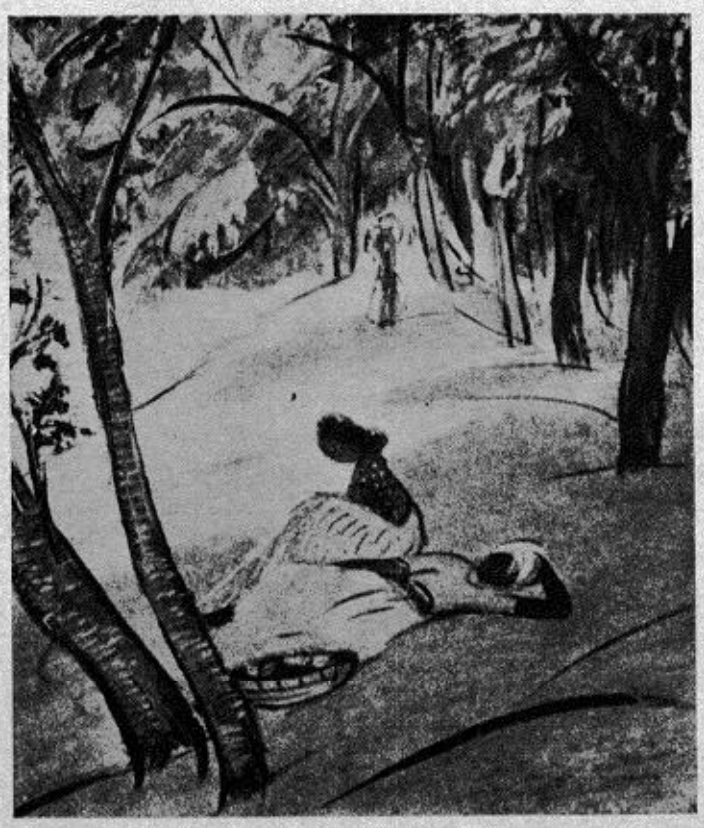

पनघट पर

compiled and created by Bhartesh Mishra

मंसूरी (उ० प्र०)
का एक स्वस्थ पहाड़ी

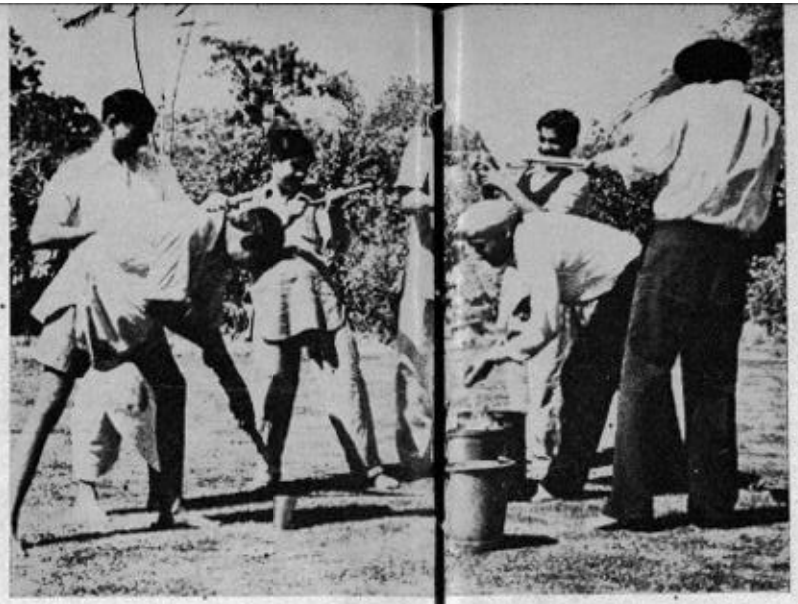

होली

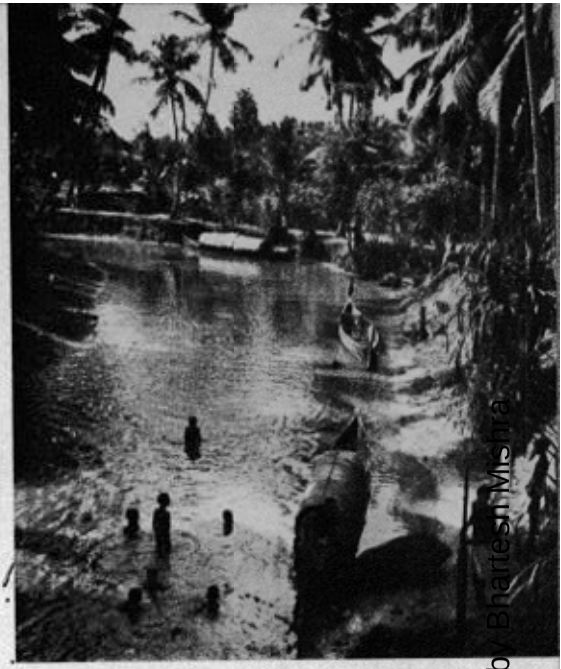

हरे-भरे केरल का
एक मनोरम दृश्य

भारतीय रहन-सहन कुछ झांकियां

बिहार का एक किसान

भरतनाट्यम्

गोवा की एक लोक-नर्तकी

compiled and created by Bharatesh Mishra

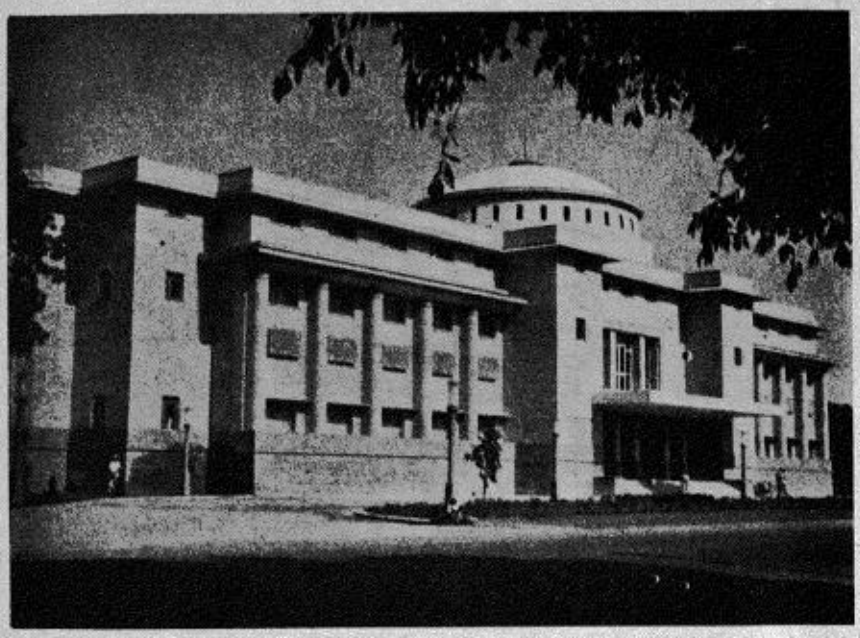

नया भवन

राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली
(उपराष्ट्रपति ने १८ दिसंबर को
नये भवन का उद्घाटन किया)

सन्त तुलसीदास

राष्ट्रीय संग्रहालय के दो पुराने चित्र

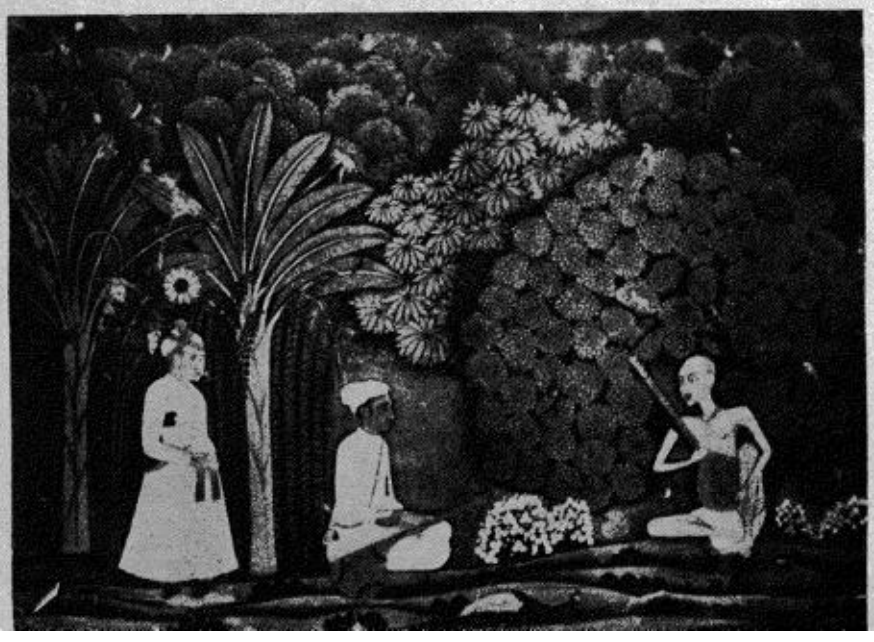

सन्त हरिदास,
अकबर और
तानसेन

compiled and created by Bhartesh Mishra

बन्धन नहीं है। किसी काल और किसी स्थान का दृश्य बड़ी सरलता से श्रोताओं के सम्मुख उपस्थित किया जा सकता है। बस प्रभाव की अन्विति बनी रहनी चाहिए। सिने-रंगमंच से और भी आगे बढ़कर इसने नाट्य-कला को सरल कर दिया है। न रंगमंच की आवश्यकता है न कायिक अभिनय की। न साज-सज्जा की। बस ध्वनि (भाषा, ध्वनि-प्रभाव और पृष्ठिभूमि का संगीत) के द्वारा ही वह अपने श्रोता को अभिभूत कर लेता है। ध्वनि के उच्चारण में ही विभिन्न भावनाएं, अभिव्यक्त होती हैं और हम समझते हैं श्रोता इस माध्यम से अधिक मात्रा में रस ग्रहण कर पाता है, क्योंकि उसका स्रोत एक ही इन्द्रिय (कान) है और इसलिए उसमें घनत्व और सूक्ष्मता अधिक है। आज की कला की प्रवृत्ति स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर है और रेडियो ने इस प्रवृत्ति को काफी शक्ति दी है। रेडियो-नाटक ने जहां इतनी सुविधाएं दी हैं, वहां उस पर कुछ बन्धन भी हैं। ध्वनि में उसे अपूर्व शक्ति और स्पष्टता पैदा करनी पड़ती है और इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि वह अपने श्रोता-दर्शक के सामने पात्रों को लेकर उलझन न पैदा करे। अर्थात् श्रोताओं को यह समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि कौन सा पात्र किस समय किस स्थिति में और किस स्थान पर है। रंगमंच पर तो नेत्र-दर्शन के कारण यह सहज है।

इन सीमाओं के कारण रेडियो-नाटक ने नाट्य-कला को काफी गहराई दी है और मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व को वह श्रोताओं के मन पर बड़ी सरलता से अंकित कर सकता है। गतिशील दृश्य उसके लिए सहज हैं। रंगमंच पर एक-पात्री नाटक बहुत प्रभाव नहीं पैदा कर पाते, लेकिन रेडियो पर वे जैसे श्रोता के मन और मस्तिष्क को अभिभूत कर देते हैं। अति काल्पनिक और प्रतीकात्मक पात्र भी रेडियो पर प्राणवन्त हो उठते हैं। 'रंगमंच पर गीति-नाट्य की परम्परा प्रायः नष्ट हो चुकी थी, लेकिन रेडियो ने उसको पुनर्जीवित किया।

लेकिन सिनेमा की तरह अर्थ के क्षेत्र में यह भी रंगमंच से बहुत सौभाग्यशाली है। शक्तिशाली माध्यम होने के कारण सरकार का इस पर आधिपत्य है। सिनेमा पर धनिक वर्ग का आधिपत्य है और अधिकतर लोगों की मान्यता है कि रंगमंच का पुनर्निर्माण भी सरकार या शक्तिशाली धनिकवर्ग की सहायता के बिना नहीं हो सकता। यदि ऐसा है, तो मानना होगा कि यह कला के लिए शुभ नहीं है। क्योंकि जिस सांस्कृतिक स्वर का ये निर्माण करेंगे, उसकी परिधि सीमित होगी। सिनेमा का हानि-कारक प्रभाव आज स्पष्ट है। रेडियो नाटक ने भी बहुत थोड़े दिनों में ही इस कला को शक्ति प्रदान की है। आज वह सस्ते हास्य के पीछे इस कला की गहराई और सघनता को नष्ट कर रहा है। लेकिन इसे हम विज्ञान का दोष नहीं मान सकते। यह तो उपयोग का दोष है। विज्ञान में शक्ति है, लेकिन दिशा नहीं। दिशा मनुष्य के हाथ में है। और इसीलिए मनुष्य ही ह्रास और विकास का कारण है, विज्ञान नहीं।

टेलीविजन की चर्चा हम अभी नहीं करना चाहते। जहां तक इसकी नाट्य-कला का सम्बन्ध है, उसमें रेडियो, सिनेमा और रंग-नाटक इन सबका सहयोग परिलक्षित है। लेकिन उसकी भी सीमाएं हैं। यों उसकी उपयोगिता के बारे में काफी मतभेद हैं। 'जिस समय हमारे देश में टेलीविजन का उद्घाटन किया गया, उस समय अमेरिका में रहने वाली एक भारतीय बहन ने मुझे लिखा था, 'भारत में टेलीविजन का आरम्भ हो गया है। अब वह दिन दूर नहीं जब भारत की सड़कों पर अमेरिका की तरह डकैतियां और दूसरी कुवृत्तियों का समावेश हो जाएगा।' मैं नहीं समझता कि यह कोई अनिवार्यता है। विज्ञान ने मनुष्य को अपरिसीम साधन, सुविधाएं और शक्ति दी है। मनुष्य उनका दुरुपयोग और सदुपयोग दोनों ही कर सकता है। लेकिन दूसरा पक्ष कह सकता है कि जब कोई शक्तिशाली वस्तु इतनी सहज हो जाती है तो उसके पीछे साधना की जो पवित्रता होती है, वह नष्ट हो जाती है। और इसीलिए उसका दुरुपयोग अधिक सम्भव है।

यह एक ऐसा तर्क है जिसका समाधान अभी भविष्य के गर्भ में है। विज्ञान आ गया है। और अभी उसके लौट जाने की कोई आशा नहीं।

(हिन्दी में मौलिक)

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्

—कालिदास

compiled and created by Bhartesh Mishra

विन्दु-विन्दु विचार

- विचारक

लेखकों के लिए विश्व बैंक

एक प्रसिद्ध अमेरिकी लेखक जेम्स टी० फरेल ने उत्तर भारत के एक पत्र में एक अपील के रूप में लेखकों की स्वाधीनता का प्रश्न उठाया है और सुझाव दिया है कि साहित्यकारों और कलाकारों के लिये एक विश्व बैंक स्थापित करने की संभावनाओं पर विचार किया जाये। उनका कहना है कि अमेरिका के एक विशाल प्रकाशन निगम से उन्हें बहुत संघर्ष करना पड़ रहा है। यह निगम संपादन के बहाने उनकी कृतियों के साथ हस्तक्षेप कर रहा है और उनके विचारों तक को बदल देता है। उनका विचार है कि इस प्रकार की आर्थिक परवशता राजनीतिक दासता से भी अधिक भयंकर है। इस आर्थिक परवशता के कारण लेखक की और रचनाशील कलाकार की स्वाधीनता प्रजातंत्रीय व्यवस्था वाले देशों में भी नाममात्र की वस्तु ही रह गई है। उनके विचार से यह समस्या पूंजीपति की पूंजी शक्ति से मनुष्य को स्वाधीन करने की समस्या है।

इस प्रकार एक बात सामने आती है कि चाहे पूर्वी गुट हो या पश्चिमी गुट, स्वच्छन्द विचारों वाले लेखकों के ऊपर हर जगह कुछ न कुछ बन्धन हैं।

श्री फरेल की लेखकों के विश्व बैंक सम्बन्धी योजना की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है। सभी राष्ट्रों के आर्थिक सहयोग से इस बैंक की स्थापना की जाये। इस बैंक की स्थानीय शाखायें प्रत्येक देश में लेखकों को उनकी कृतियों के प्रकाशन के लिये ऋण दें, इस प्रकार लेखकों को पूंजीपतियों से प्राप्त अग्रिमधनों कमीशनों या रायल्टी पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। उसके नाम अपनी कृति के प्रकाशन के लिये पूंजी होगी, जिसे वह अपनी पूंजी कह सकेगा और उससे प्राप्त होने वाले पूरे-पूरे लाभ का (सव्याज मूलधन लौटाने के बाद) भाजन हो सकेगा। इस प्रकार जो पैसा प्राप्त होगा, वह न तो रिश्वत होगी और न लेखक के ऊपर उसके कारण कोई बन्धन ही होंगे।

श्री फेरल आगे कहते हैं कि यदि यह सुझाव कार्यान्वित किया जा सके, तो इससे अनेक लाभ होंगे। वह मानते हैं कि इसमें कई व्यावहारिक कठिनाइयां हैं, परन्तु फिर भी यह विचार करने योग्य है। उनका विचार है कि आज की दुनियां में जहां एकरूप राजनीतिक व्यवस्थाओं की शृंखला लेखकों को कसे हुए है और विशाल शक्तिशाली प्रकाशन-संस्थायें उसे ग्रसने के लिये मुंह बाये खड़ी हैं, बेचारों अकेला लेखक कुछ नहीं कर सकता। उसक पास अकेले इन विशाल शक्तियों के साथ संघर्ष कर सकने की शक्ति नहीं है। किन्तु यदि इस सुझाव को कार्यान्वित करना संभव हो जाये, तो यह लेखकों की 'स्वाधीनता' की पूंजीपतियों की 'शक्ति' के ऊपर विजय होगी। सरकार और ये विशाल निगम लेखक को किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में उतनी आजादी नहीं दे सकते, जितनी उसे इस प्रकार के बैंक से प्राप्त हो सकती है। सत्तासीन दल की राजनीतिक और आर्थिक आस्थाओं के अनुरूप अपने-आपको ढालने के लिये विवश करना निश्चय ही लेखक की रचनात्मक क्रियाशीलता की दिशा में सबसे बड़ी बाधा है।

श्री फेरल के ये उद्गार और ये सुझाव कई दृष्टियों से विचारणीय हैं। यह ठीक है कि भारत जैसे तटस्थ राज्य में इनमें से अधिकांश बातें लागू नहीं होतीं और इस बैंक की स्थापना भारत के लेखक उन्हीं कारणों से नहीं चाह सकते, जिन कारणों से श्री फरेल चाहते हैं। देखा जाये तो भारत के लेखकों को बहुत स्वाधीनता है। उसकी राजनीति किसी विशेष पूर्वी या पाश्चात्य सिद्धांतवादिता से नहीं बंधी है। फलतः आज का लेखक किसी भी गुट की भूरिभूरि प्रशंसा करने या उत्कट आलोचना करने के लिये जितना इस देश में स्वतन्त्र है, उतना शायद अन्यत्र न होगा। आजादी के बाद जब्त होने वाली पुस्तकों की संख्या शून्यप्राय है। यदि छिटपुट कुछ पुस्तक, पत्र-पत्रिकायें जब्त की गई हैं, तो उनका कारण उनका साम्प्रदायिक विद्वेष या यौन उत्तेजन फैलाना ही रहा है। कोई भी राजनीतिक या सामाजिक व्यवस्था इस प्रकार के साहित्य पर तो रोक लगायेगी ही और तथाकथित बैंक से प्रकाशित साहित्य पर भी इस प्रकार के बंधन तो रहेंगे ही।

भारत के अधिकांश प्रकाशक बड़े-बड़े पूंजीपति नहीं हैं। जो बड़े पूंजीपति भी हैं, वे भी उग्र साम्यवादी विचारधाराओं की पुस्तकें भी उतने ही चाव से प्रकाशित करते हैं, जितने चाव से उग्र अमेरिकी विचार-धाराओं की पुस्तकें और उसका ध्यान केवल इस ओर रहता है कि बाजार में कौन-सी पुस्तक की ज्यादा खपत होगी। इसलिये श्री फरेल जैसी समस्या भारत के लेखक के सम्मुख नहीं है। मूर्तिकार और चित्रकार आदि भी ऐसी शिकायत प्रायः नहीं कर सकते कि उनकी कृतियां वर्ग विशेष की विचारधारा से अनुप्राणित होने के कारण राष्ट्रीय प्रदर्शनियों, वीथियों आदि में

compiled and created by Bhartesh Mishra

स्वीकृत-प्रदर्शित नहीं की जा सकीं। उन्हें अपनी कृतियों की पृथक् प्रदर्शनी आयोजित करने की तो पूरी आजादी है ही।

फिर भी हमारे यहां के लेखकों, कलाकारों को भी इस बैंक से विपुल लाभ पहुंचेगा। इसका आधार विशुद्धतः आर्थिक है। हमारे यहां के बहुत से प्रकाशकों आदि में अभी लेखकों के साथ किये गये करारों का सम्यक् पालन करने की नैतिकता पनप नहीं सकी है, जैसा कि हमारे राष्ट्रीय जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी है। फलतः हमारे लेखक समुदाय के एक वर्ग को अपने प्रकाशकों की ईमानदारी के बारे में शिकायतें हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लेखकों को इस बैंक से प्राप्त ऋणों द्वारा अपनी पुस्तकें स्वयं प्रकाशित करके निश्चय ही बड़ा लाभ होगा।

इस विषय पर 'संस्कृति' के उद्बुद्ध पाठक अपने विचार लोकमंच के लिये भेज सकते हैं।

साहित्यकारों का सम्मान

साहित्यकारों के सम्मान के बारे में 'संस्कृति' के पिछले अंकों में बहुत कुछ कहा गया है। नवीन जी सम्बन्धी लेख में श्री बनारसी दास जी चतुर्वेदी ने भी यह प्रश्न उठाया था कि हम अपने महा-पुरुषों का साहित्यिक श्राद्ध करने में बड़े कृपण होते जा रहे हैं।

किन्तु अब लगता है कि इस दिशा में कुछ परिवर्तन हो रहा है। पंत अभिनन्दन, मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन और पुरुषोत्तमदास टंडन अभिनन्दन की दिशा में हमने अभी हाल में बहुत कुछ किया है। अब सुनने में आया कि कविवर निराला के सम्बन्ध में एक वृत्त-चित्र तैयार होने जा रहा है। ये सब बातें इस प्रवृत्ति की द्योतक हैं कि साहित्यकारों का समुचित सम्मान करने के लिये भी अब हम लोग काफी प्रवण होने लगे हैं।

ये सब बातें एक स्वस्थ प्रवृत्ति की ही परिचायक है। हमें अपने तपःपूत साहित्यकारों और साहित्य नेताओं का सम्मान करने में कोई भी कृपणता नहीं दिखानी चाहिये। यह अलग बात है कि इस सम्मान का रूप क्या हो। अभिनन्दन ग्रंथ समर्पित करना निश्चय ही सम्मान करने का एक समय सिद्ध तरीका है। अभिनन्दन ग्रन्थ की स्थायिता और सूचना-प्रदता की दृष्टि से भी इस तरीके का महत्व बहुत बढ़ जाता है। परन्तु यह तभी संभव है, जब अभिनन्दन ग्रंथ तैयार करने में पूरे अध्यवसाय से काम लिया जाये और उनका संपादन सक्षम व्यक्तियों के हाथों से कराया जाये। सामग्री के संकलन-संपादन में जिस अभि-नन्दन ग्रंथ के आयोजक जितनी रुचि दिखायेंगे, विशिष्ट अभिनन्दन ग्रंथ साहित्य के स्थायी भंडार में उतनी ही अधिक वृद्धि करेगा। अभी प्रकाशित 'टंडन अभिनन्दन' ग्रंथ बड़ा ही संग्रहणीय और उपादेय है।

रहन-सहन और संस्कृति

उक्त विषय पर संस्कृति के विगत दो अंकों में एक संगोष्ठी के रूप में एक परिचर्चा आयोजित की गई थी और देश के विभिन्न प्रदेशों की जीवन-पद्धतियों के बारे में जानकारीपूर्ण लघुलेख प्रकाशित किये गये थे। संस्कृति जीवन को जीने योग्य बनाती है, इसलिये रहन-सहन के विशिष्ट तरीकों का भी किसी जाति के संस्कृत होने की इयत्ता के मापदण्डों के रूप में उपयोग किया जा सकता है।

यह ठीक है कि कपड़ा पहने लेना और रोटी-दाल से पेट भर लेना ही संस्कृति नहीं है। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि इन दोनों चीजों में मानव की विशिष्टताओं ने ही उसे अन्य पशुओं से ऊपर उठाया और तथाकथित 'संस्कृति' प्रदान की। इसी कारण यह माना जाता है कि किसी देश की वस्त्र-भूषा और खान-पान के तौर तरीके भी उस देश की संस्कृति के प्रधान अंग होते हैं।

समय के साथ प्रत्येक वस्तु के मूल्य और निदेशक तत्व बदलते रहते हैं। किन्तु प्रत्येक जाति के तथाकथित सभ्य और संस्कृत वर्ग की वेशभूषा और खान-पान के विशिष्ट तौर-तरीके होते हैं, जो उसी जाति के जनसामान्य में प्रायः नहीं पाये जाते। किन्तु उस जाति का जनसामान्य भी इन तौर-तरीकों की स्पृहा करता है।

अन्धानुकरण संस्कृति के किसी भी तत्व के लिये हानिकर है, प्रायः उतना ही जितना काल-क्षीण परंपराओं से चिपटे रहना। संस्कृति के अन्य मूल्यों की ही भांति खान-पान और वेशभूषा के तौर-तरीकों में भी समयोचित विकास सदैव होता रहा है और होता रहेगा। किन्तु प्रत्येक चीज में पाश्चात्य परंपरा को अपनाते जाना हमें अपनी 'भारतीयता से वंचित कर सकता है। मेजबान द्वारा नम्रतापूर्वक मेहमान से अधिक खाने का अनुरोध और अपने यहां के उत्तम व्यंजनों को शाक-पात बताने की विनीतता भारतीय आतिथ्य का एक अंग रही है। मेहमान द्वारा भी प्रत्युत्तर में भोजन की अत्यधिक प्रशंसा और अधिक परोसे जाने पर सौजन्यपूर्ण अस्वीकृति भी हमारे आतिथ्य का एक तत्व है। अंग्रेजी भोजन-मेज के तौर-तरीकों को अपनाते समय हमें अपनी इन विनम्र और सौजन्यपूर्ण परंपराओं को नहीं भुला देना चाहिये। (विशेष दे० इसी अंक में प्रो० मुजीब का उत्तर प्रदेश सम्बन्धी लघुलेख)

वस्त्रों के बारे में भी मनुष्य बहुत ही विकासशील रहा है। किन्तु हमारी एक पोशाक (पुरुषों और महिलाओं दोनों की) अवश्य ऐसी होनी चाहिये, जिसे राष्ट्रीय कहा जा सके। वैसे हमारे जैसे प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपने वस्त्रों के स्वरूप के बारे में आजादी होनी चाहिये किन्तु हमें कुछ इस प्रकार के सामाजिक या नैतिक आबन्धन या नियंत्रण भी विकसित करने चाहिये कि औपचारिक अवसरों पर उपयोग के लिये प्रत्येक सभ्य भारतीय के पास एक ही प्रकार की एक पोशाक अवश्य हो। राजनीतिक स्तर पर इस समस्या का समाधान करना या पूरे समाज पर राज्य की ओर से एक बन्धन लाद देना हमारे लिये संभव नहीं है। परन्तु निश्चय ही एक राष्ट्रीय पोशाक के लिये एक सामाजिक आन्दोलन किया जा सकता है। प्रत्येक समाज के कुछ अग्रणी लोगों से इस प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर (एक आंदोलन द्वारा) कराये जा सकते हैं कि वे औपचारिक अवसरों पर एक निश्चित राष्ट्रीय पोशाक ही पहनेंगे। यदि समाज के प्रत्येक क्षेत्र के कुछ अग्रणी नेता इस दिशा में स्वयं उस विशिष्ट राष्ट्रीय परिधान को ही पहनने का (खासकर औपचारिक अवसरों पर) उदाहरण प्रस्तुत कर सकें, तो बाकी जनसमुदाय भी उनके द्वारा निश्चित आदर्श का अनुकरण करने के लिये अवश्य ही प्रयत्नशील होगा।

आशा है, संस्कृति के सजग पाठकों का ध्यान इन समस्याओं की ओर आकर्षित होगा।

compiled and created by Bhartesh Mishra

हिन्दी पुस्तकों की बिक्री

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ ने नवम्बर के पहले पक्ष में राष्ट्रीय पुस्तक समारोह आयोजित किया। संघ के प्रधानश्री रामलाल पुरी ने जन-साधारण में पुस्तकों को खरीदने और पढ़ने की रुचि तेजी से जागृत करने के बारे में एक अपील की और कहा कि प्रत्येक व्यक्ति यह निश्चय करे कि वह अपनी आय का कुछ भाग पुस्तकों पर अवश्य खर्च करेगा।

यह सर्वविदित है कि 'पाठ्य पुस्तक' और 'कथा-उपन्यास' की कोटि से बाहर की सामान्य पुस्तकों की बिक्री हिन्दी में बहुत ही कम है। ऐसी स्थिति में इस प्रकार के समारोह हिन्दी प्रदेश के शिक्षितों को अधिक पुस्तकें खरीदने के लिए उकसाने में सफल होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। संघ ने एक आयोजित रूप में कमीशन देने की प्रथा बन्द करके और मूल्य कम रखने की प्रथा डालकर हिन्दी पुस्तक विक्रय जगत् में एक नया आदर्श भी स्थापित किया है, जिसने इस क्षेत्र की बहुत-सी अव्यवस्था दूर कर दी है। संघ द्वारा आयोजित यह समारोह निश्चय ही बड़ा सराहनीय आयोजन है, जिसका प्रत्येक शिक्षित द्वारा सर्वत्र स्वागत किया जायेगा। वस्तुतः हमें कुछ ऐसे पर्व आयोजित करने चाहिये, जब पुस्तकें खरीदना एक सामाजिक रिवाज बन जाये। उपहारों में पुस्तकें भी अधिकाधिक संख्या में दी जानी चाहिये।

इन आयोजनों के अलावा कुछ और व्यवहारिक योजनायें भी बनाई जानी चाहियें, जिनसे पुस्तकों की बिक्री बढ़ सके। 'आस्थगित भुगतान प्रणाली' हमारे पुस्तक विक्रेताओं द्वारा भी अपनाई जानी चाहिये, जिसके अन्तर्गत विभिन्न प्रतिष्ठित लेखकों की ग्रंथावलियां या विषय या रुचि विशेष के ग्रंथ समुच्चय बारह, छः या तीन महीनों की किश्तों में भुगतान की पद्धति पर पाठकों को सुलभ किये जायें। यदि हमारे प्रकाशक-बन्धु इस प्रकार की निश्चित योजनायें लेकर सामने आयें, तो हमारा विश्वास है कि हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों द्वारा उनकी इन योजनाओं का स्वागत किया जायेगा।

इस सम्बन्ध में एक और बात भी उल्लेखनीय है। यह ठीक है कि सामान्यतः पुस्तकों पर मुद्रित मूल्य में ही पुस्तकें बिकनी चाहिये और कमीशन देने की प्रथा एक कुप्रथा ही मानी जायेगी। इससे न तो क्रेता का ही हित होता है और न विक्रेता का ही। उल्टे अनेक प्रकार की कुरीतियों की गुंजाइश ही बढ़ जाती है। किन्तु यह तो सामान्य स्थिति की बात हुई। पुस्तक-समारोह के अवसर पर तो हमारे विचार से पुस्तकों का विक्रय उसी रूप में आगे बढ़ाया जाना चाहिए, जिस प्रकार बड़े शहरों की अन्य चीजों की प्रतिष्ठित फर्में वर्ष में एक या दो बार सस्ती बिक्री (रिडक्शन सेल) आयोजित करके अपना विक्रय बढ़ाती हैं। हमें पता चला है कि संघ की कार्यकारिणी ने आरम्भ में यह स्वीकार किया था कि इस पक्ष में पुस्तकों पर विशेष कमीशन दिया जायेगा, किन्तु बाद में कुछ सदस्यों के अनुरोध पर यह निश्चय बदल दिया गया। संघ के इस निश्चय परिवर्तन को हम दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं। राजधानी में कुछ सप्ताह तक विशेष छूट देकर खादी ग्रामोद्योग भवन ने कई लाख रुपयों की बिक्री की। हमारा विचार है कि यदि प्रकाशक-बन्धुओं ने भी इसी आधार पर अपना विक्रय-अभियान आयोजित किया होता, तो निश्चय ही एक-एक फर्म कई लाख की नहीं, तो कई हजार की पुस्तकें तो बेच सकने में सफल होती ही। वाणिज्य-प्रगति के इस युग में नये और तरीकों को न अपनाना बुद्धिमानीपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

कुछ अन्य उपाय भी हैं। सर्वाधिक बिकने वाली पुस्तकों के नये संस्करणों की जयन्तियां, या उनकी दस हजारी, पचीस हजारी या पचास हजारी जयन्तियां, नई पुस्तकों के प्रकाशन-उद्घाटन समारोह, प्रसिद्ध स्वर्गीय लेखकों की पुण्य तिथियों पर उनके ग्रन्थों की कुछ छूट देकर बिक्री आदि-आदि अनेक उपाय हैं, जिनके द्वारा पुस्तक-विक्रय में वृद्धि की जा सकती है। यह हर्ष की ही बात है कि हिन्दी के प्रकाशक इस दिशा में सक्रिय और सजग हैं और यह हिन्दी के पुनीत और उज्ज्वल भविष्य का ही परिचायक है।

शैलोज मुकर्जी

पांच अक्तूबर को आधुनिक भारतीय चित्रकला के गगन से शैलोज मुकर्जी नामक नक्षत्र अन्तर्ध्यान हो गया। वह अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति थे। वह सुन्दरता के अनन्योपासक थे। एक बार एक मित्र ने पूछा कि वह कैनवास पर क्या बनाते हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया, 'मैं सौन्दर्य की सृष्टि करता हूं, केवल विशुद्ध सौन्दर्य की।' वह आजीवन अविवाहित रहे और एक बार विनोद में उन्होंने किसी मित्र से कहा भी था : "हृदयस्वामिनी एक ही हो सकती है। मेरी हृदयस्वामिनी का नाम है कला।" वह 'एकला चलो रे' आदर्श के प्रेमी थे और प्रभाववादोत्तर कला का उन पर विशेष प्रभाव न पड़ा। उनकी कूंची सुकोमल भारतीय प्रकृति-दृश्यों के सृजन में विशेष चाव लेती थी और उनकी रेखाओं और छवियों को देखकर दर्शकों को अमृत शेरगिल की याद आ जाती है। विदेश में भी उन्हें कीर्त्ति मिली थी और पेरिस के 'सेलन दे माई' में उनकी कुछ कृतियां प्रदर्शित हैं। वह चित्रकार ही नहीं, उच्चकोटि के कला शिक्षक भी थे। शारदा उकील स्कूल ऑफ आर्ट्स और दिल्ली पोलीटैकनीक के कला विभाग में वह कई वर्षों तक अध्यापन करते रहे। उनकी अपनी विशिष्ट शैली थी। वह आज हमारे बीच नहीं हैं, पर उनकी कृतियां देश-विदेश में उनकी कीर्ति पताका के रूप में अमर रहेंगी। हम उनकी दिवंगत आत्मा की शांति की कामना करते हैं।

compiled and created by Bhartesh Mishra

सांस्कृतिक हलचलें

वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक कार्य मंत्रालय

प्रतिनिधि मंडल

(क) भारत आने वाले

सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी मिमे श्री मार्सेल मार्स्यू भारत सरकार के आयोजन में सात जुलाई को दिल्ली आये और उन्होंने दो दिन अपने अभिनय दिखाये ।

(ख) बाहर जाने वाले

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के नेतृत्व में भारत के प्रसिद्ध विद्वानों के एक प्रतिनिधिमंडल ने मास्को में प्राच्यविद्या विशारदों की पचीसवीं अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में भाग लिया ।

नेपाल में भारतीय स्वाधीनता दिवस के सिलसिले में एक प्रतिनिधिमंडल नेपाल गया, जिसमें सर्वश्री प्राणनाथ, नन्दलाल घोष, हरिकृष्ण, हरचरणदास शर्मा, सन्तराम और कुमारी करुणा अबरोल थे ।

अफगान जशन समारोह में शामिल होने के लिये वहां की सरकार के निमंत्रण पर संसद् सदस्य श्री जमाल ख्वाजा के नेतृत्व में छब्बीस व्यक्तियों की एक टुकड़ी काबुल भेजी गई । इसमें हाकी के खिलाड़ी और प्रसिद्ध संगीतज्ञ और नृत्यकार थे ।

सूडान, टर्की, यूनाइटेड अरब रिपब्लिक, ईरान और अदन की दो महीने की यात्रा पर कुमारी शान्ताराव (भरतनाट्यम् नृत्यकार), श्रीमती दमयन्ती जोशी (कत्थक नृत्यकार), श्री बहादुर खां (सरोदवादक) श्रीमती शम्भो खुराना और उनके सहवादकों का एक प्रतिनिधिमंडल भेजा गया ।

प्रदर्शनियां

एक भारतीय कला प्रदर्शनी (96 समकालीन चित्र और साठ लघुचित्र) सांटियागो (चाइल) भेजी गई । बाद में यह अन्य देशों (अर्जेंटीना, ब्राजील आदि) में भी जायेगी ।

दिल्ली पोलीटेकनीक

स्व० शैलोज मुखर्जी के चित्रों की एक प्रदर्शनी आयोजित की गई । उनके चित्र कई स्थानों से प्राप्त किये गये थे और उनके प्रारम्भिक और अंतिम सभी प्रकार के चित्र इस संग्रह में प्रदर्शित किये गये, जिससे उनकी कला पर समुचित प्रकाश पड़ सके । एक बैठक में उनकी कला पर विचार प्रकट किये गये ।

उपहार और भेंट

सोवियत दूतावास ने 'युवानिर्माता' और 'जयपुर की स्त्रियां' नामक चित्र राष्ट्रीय आधुनिक कलावीथी को जुलाई में भेंट दिये ।

रोम विश्वविद्यालय की इतिहास और दर्शन संस्था को बुद्ध की एक कांसे की मूर्ति भेंट देने के लिये पांच हजार रुपये मंजूर किये गये । यह मूर्ति रोम स्थित भारतीय दूतावास को भेज दी गई है ।

अनुदान

बौद्ध दर्शन विद्यालय, लेह के संधारण के लिये तीस हजार रुपयों का अनुदान दिया गया । विद्यालय के पुस्तकालय को 2450 रु० कुछ ग्रंथों के लिये अलग से दिये गये । भूटान की राजमाता द्वारा तक्तसांग में स्थापित मठ के लिये दस हजार रुपयों का सांकेतिक अनुदान दिया गया । सिक्किम में हिज होलीनेस ग्यावा करमपा के अधीन करायूपा मत के शेढा और दुबधा केन्द्रों की स्थापना के लिये भारत सरकार ने एक-एक लाख रुपयों की दो किस्तें देना मंजूर किया है । पहली किश्त हिज हाइनेस सिक्किम महाराजा को 21.10.60 को दी गई ।

प्रो० रेणु के संस्कृत-फ्रेंच व्याकरण के पुनर्मुद्रण के लिये चार हजार रुपयों का अनुदान दिया गया ।

न्यूयार्क में मई में होने वाली ईरानी कला और पुरातत्व की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में भाग लेने के लिये डा० जे० एम० उनवाला को पांच हजार रुपयों की रकम दी गई । शारदा बिहार को संधारण के लिये भी इतना ही अनुदान दिया गया । नामग्याल तिब्बत विद्या संस्था को संधारण के लिये पचास हजार रुपयों की राशि दी गई ।

कालिदास जयन्ती समारोह के लिये साढ़े सात हजार रुपयों का अनुदान दिया गया ।

धर्मकोश मंडल, वाई; भंडार प्राच्य अनुसंधान संस्था, पूना; कुप्पूस्वामी शास्त्री संस्था, मद्रास और सरकारी प्राच्य पांडुलिपि

compiled and created by Bhartesh Mishra

पुस्तकालय, मद्रास को कुछ प्रकाशनों के लिये क्रमशः रु० 4300, 7200, 1500 और 1750 के सहायता-अनुदान दिये गये। एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता को दो लाख रुपयों और नसीरिया लाइब्रेरी, लखनऊ को बीस हजार रुपयों के सहायता-अनुदान इमारत बनाने के लिये दिये गये। गोखले राजनीतिक संस्था को संधारण के लिये दस हजार रुपयों और ट्रेडीशनल कलचर संस्था, मद्रास को सामान्य कामों के लिये पांच हजार रुपयों के सहायता अनुदान दिये गये।

राज्यों के संग्रहालयों के विकास के लिये विभिन्न राज्यों को कई तरह के कामों के लिये लगभग पौने तेरह लाख रुपये खर्च करने का अधिकार दिया गया। निजी संग्रहालयों को सामग्री खरीदने के लिये प्रायः एक लाख के अनुदान दिये गये, जिनमें से सबसे बड़ी राशियां हिन्दू विश्वविद्यालय को चालीस हजार रुपये और गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को तीस हजार रुपयों की हैं।

आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास के सिलसिले में कन्नड़ विश्वकोष आदिके प्रकाशन के लिये मैसूर को 46,000 रु० और कुछ फुटकर प्रकाशनों के लिये पं० बंगाल सरकार को 36,207 रु० के अनुदान दिये गये। कई निजी संस्थाओं को भी विभिन्न प्रकाशनों के लिये रु० 1,12,150 के अनुदान दिये गये।

राष्ट्रीय स्मारक ट्रस्ट, अमृतसर को 8280 रु० और इस्लामिक कलचर बोर्ड, नरयागुडा (हैदराबाद) को 5,000 रु० के अनुदान दिये गये।

रंगमंच

रंगशालाओं को सहायता की योजना के अधीन प्रत्येक नाटक पर साढ़े सात हजार रुपये का अनुदान दिया जायेगा। 1960-61 में किसी भी मंडली को दो से ज्यादा नाटकों के लिये अनुदान न दिया जायेगा। अनुदान सभी प्रादेशिक भाषाओं में वितरित किया जायेगा। अनुदान पाने वाले दो नाटकों में से एक नाटक टैगोर का नाटक, बैले, नृत्य या ओपेरा होना चाहिए।

उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात को खुली रंगशालाओं के लिये क्रमशः 6,100, 3,450 रु० और 2,300 दिये गये हैं।

अनेक निजी नाट्यसंस्थाओं को भी अनुदान दिये गये हैं रवीन्द्र परिषद्, पटना को इमारत बनाने के लिये पचास हजार रुपये दिये गये हैं।

सांस्कृतिक विनिमय

अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक विनिमय योजना के अधीन एक कुचिपुडि-मंडली सितम्बर-अक्तूबर में आंध्र प्रदेश से मद्रास गई।

प्रकाशन

स्वाधीनता आन्दोलन का इतिहास

पहली जिल्द प्रेस जा चुकी है और जल्दी ही निकल जायेगी।

गजेटियर

रायचूर (मैसूर), बाराबंकी और सीतापुर (उ० प्र०) के जिला गजेटियरों के प्रारूपों की जांच की गई। कुछ दूसरे जिला गजेटियर भी आये हैं। केन्द्रीय गजेटियर के भी कुछ और अध्याय प्राप्त हुए हैं।

राज्यों के गजेटियर संपादकों का दूसरा सम्मेलन नई दिल्ली में 25-26 अगस्त को हुआ और महत्वपूर्ण समस्याओं पर चर्चा की गई।

प्रकाशन और ब्यूरो

मंत्रालय की प्रकाशन यूनिट ने नीचे लिखे प्रकाशन निकाले:—कल्चरल फोरम—सितम्बर, 1960; संस्कृति (आश्विन), टैगोर सेंटेनरी बुलेटिन (नवंबर), भारतीय रंगमंच के क्षितिज, विज्ञान मन्दिर निर्धारण समिति की रिपोर्ट—दो जिल्दें (अंग्रेजी)।

संग्रहालय

राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

18 दिसम्बर को होने वाले औपचारिक उद्घाटन के लिये पूरी तैयारियां की गई। गैलरियों को फिर से लगाया गया। पहली दो मंजिलों में अध्ययन-केन्द्र भी रखे गये हैं। केंटीन, पुस्तकालय और औडिटोरियम की भी व्यवस्था की गई है। क्रय समिति की सिफारिशों पर प्रायः नौ-सौ नई वस्तुएं बढ़ाई गई, जिनसे बहुत बड़ी कमी दूर हो गई है। श्री एम० एस० रन्धावा लिखित 'कांगड़ा पेंटिंग्ज आफ भागवत पुराण' अक्तूबर में प्रकाशित हुई, इसमें बीस रंगीन चित्र और चालीस पाठ्य-पृष्ठ है और मूल्य तीस रुपये है।

'हड़प्पा संस्कृति' और 'भारतीय मूर्तिकला' पर दो किटें तैयार की गई हैं। प्रत्येक में पूरे आकार के बीस-बीस कास्ट हैं। हर सैट के लिये एक फोटो-संग्रह भी है, जिसमें पाठ्यसामग्री भी है। ये 'किटें' चुने हुए छः सौ दर्शकों को उनके बहुमूल्य सुझावों के लिये तीन दिन तक दिखाई गई।

भारतीय संग्रहालय कलकत्ता

पुरानी वस्तुयें—सिक्के, मिट्टी की मूर्तियां, हाथीदांत की चीजें और पांडुलिपियां—प्राप्त की गई। गैलरियों को फिर से जमाया जा रहा है। मौर्य कक्ष में अशोक के शिलालेखों पर एक नक्शा लगाया गया है। सिक्कों को उनके कालक्रमानुसार लगाया जा रहा है।

राष्ट्रीय आधुनिक कलावीथी, नई दिल्ली

क्यूबा के राजदूत के सांस्कृतिक सहचारी ने वहां की आधुनिक कला पर 11.9.60 को एक भाषण दिया। कुछ महत्वपूर्ण फिल्म दिखाये गये। श्रीमती हरभजन सांढू से तेरह सौ रुपयें में 'हारवेस्ट' नामक बहुमूल्य मूर्ति प्राप्त की गई। क्यूरेटर प्लास्टिक कला के अन्तर्राष्ट्रीय संघ में भाग लेने के लिये वियना गये और बैठक के अध्यक्ष चुने गये। कुछ दुर्लभ पुस्तकें पुस्तकालय के लिये प्राप्त की गई। कई महत्त्वपूर्ण दर्शक वीथी को देखने आये।

सालारजंग संग्रहालय और पुस्तकालय

संग्रहालय के पुर्नगठन के लिये कई योजनायें मंजूर की गई हैं। इमारत को बढ़ाने के लिये आस-पास की जमीन प्राप्त करने का प्रस्ताव है। पूरे संग्रह को पुनर्व्यवस्थित किया जा रहा है। एक

compiled and created by Bhartesh Mishra

पुस्तकालय भी गठित किया जा रहा है। संग्रहालय का पुनर्गठन संग्रहालय-विद्या में व्यावहारिक अनुभव का एक दुर्लभ अवसर है, अतः भारत सरकार ने सहायक -निदेशक डा० देवकर को पोस्ट-ग्रेजुएट पाठ्यक्रम चलाने की अनुमति दे दी है। संग्रहालय की लोकप्रियता दिन-दिन बढ़ती जा रही है।

पुस्तकालय

राष्ट्रीय पुस्तकालय, कलकत्ता

बीस हजार नामों वाली एक लेखक-सूची प्रेस भेज दी गई है। भारतीय भाषाओं के कोशों और विश्वकोशों की एक ग्रंथ-सूची भी (जिसमें दो हजार पुस्तकों के नाम हैं) प्रेस भेज दी गई है।

केन्द्रीय संदर्भ, पुस्तकालय कलकत्ता

इंडियन नेशनल ग्रंथ-सूची का एक अंक (जिल्द तीन अंक एक) निकाला गया। अगला अंक प्रैस में है। 1958 के अंक के हिन्दी और बंगाली संस्करण प्रकाशित किये गये। 1959 के मलायलम और कन्नड़ अंक भी प्रकाशित किये गये।

पुरातत्व

खोज और खुदाई

श्रीनगर जिले में एक स्थल पर की गई खुदाई से गड्ढों में रहने वाली जाति के अवशेषों का पता चला है, जो भारत में इस प्रकार का पहला ही स्थल है। हाथ के बने औजार और बर्तन भी मिले हैं। नरसिंहपुर (म० प्र०) में की गई खुदाई से पुरा-पाषाण कालीन औजारों का पता चला है। अहमदनगर जिले में एक लघु-प्रस्तर कालीन स्थल का पता चला है। एलोरा की कुछ गुफाओं के आगे सफाई करने पर अनेक जैन-बौद्ध मूर्तियां मिली हैं, जिनके आसनों पर उल्लिखित उत्कीर्ण लिखाई से उनके मध्यकालीन होने का पता चलता है। गाजीपुर जिले में खुदाई से कई एन० बी०पी० स्थलों का पता चला है। रांची जिले के जिन तीन गांवों में पहले दीर्घप्रस्तर कालीन चीजें मिली थीं, वहां लघुप्रस्तर कालीन चीजें भी मिली हैं।

उत्कीर्ण लेख

कई उत्कीर्ण लेखों की जांच की गई। इनमें से नीचे लिखे उल्लेखयोग्य हैं: संस्कृत और तेलुगू में लिखा कुडुप्पा जिले से प्राप्त विजयनगर दानपत्र (1433 शक-1510 ई०), पालघाट जिले से प्राप्त दसवीं सदी का वट्टेलुत्तु लिपि में तमिल लेख, भरतपुर जिले से प्राप्त हर्ष युग का लेख, जो गांव पंचायतों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है, कुम्भलगढ़ (उदयपुर) से प्राप्त गोहिलों का 1515 वि० सं० का लेख, जोधपुर जिले से प्राप्त 1515 वि० सं० का लेख, जिसमें कीर्तिस्तम्भ के जीर्णोद्धार का उल्लेख है और सीकर से प्राप्त दो उत्कीर्ण लेख।

संरक्षण

बेरीनाग (अनन्तनाग, काश्मीर) की मुगल महराबों की विशेष मरम्मत की गई। श्रीनगर के बादशाह मकबरे की मरम्मत चल रही है। नीचे लिखे स्मारकों की देखभाल-मरम्मत की गई: बेल्लूर का केशव मंदिर, कोचीन का मुत्तनचूड़ी महल, दभोई (बड़ौदा) का हीरा द्वार, कैम्बे की जामी मस्जिद, ढोलका का खान तालाब, लोथल के अवशेष, ऊपर कोट (जूनागढ़) की बौद्ध गुफाएं, नागदा का सास-बहू का मंदिर, हनुमान गढ़ का भाटनेर किला, ताजमहल आगरा, फतेहपुर सीकरी का शेख सलीम चिश्ती का इमाम बाड़ा। इसके अलावा दिल्ली के नीचे लिखे स्मारकों पर भी ध्यान दिया गया: अब्दुर्रहीम खानखाना का मकबरा, बेगमपुरी मस्जिद, विजय महल, हौज खास, कोटला फीरोजशाह, नजफखां का मकबरा, कुतुब मीनार, लाल किला, सफदरजंग का मकबरा, सिकंदर लोदी का मकबरा, सुल्तानगढ़ का मकबरा, तुगलक का किला; जामा मस्जिद।

पुरातत्व रसायन

बहुत से स्मारकों (जैसे, अजन्ता, लेपकाशी, श्रीरंगपट्टन, तंजौर) के चित्रों को रसायनिक तरीके से साफ और संरक्षित किया गया। चित्तौड़गढ़ के जटाशंकर के नंदी मंडप से काई साफ की गई।

संग्रहालय

भारतीय संग्रहालय में 375 और बोधगया संग्रहालय में 421 नई चीजें बढ़ाई गईं।

ललित कलायें

ललित कला अकादमी

शिवबक्स चावड़ा पर एक पुस्तिका सितम्बर में प्रकाशित की गई। यह इस माला की चौथी पुस्तक है। 'ललित कला' का सातवां अंक अक्तूबर में निकला।

रूमानियां के स्थापत्य पर एक प्रदर्शनी नवम्बर में मद्रास में आयोजित की गई। यह लखनऊ, अहमदाबाद और दिल्ली में भी दिखाई जायेगी।

भारतीय लघु-चित्रों का एक संग्रह अकादेमी ने तैयार किया है, जिसे एक प्रदर्शनी के रूप में प्रस्तुत किया जायेगा। इसमें चित्रों के अलावा सचित्र पांडुलिपियां और पट आदि भी हैं। यह प्रदर्शनी पहले कलकत्ते में और फिर बम्बई और दिल्ली में भी दिखाई जायेगी। इस प्रदर्शनी का एक कैटलाग भी अकादेमी ने तैयार किया है, जिसमें आठ रंगीन और सौ से ज्यादा हाफटोन चित्र भी हैं।

संगीत नाटक अकादेमी

टैगोर शताब्द समारोह में सिलसिले में सौ गीतों का भारतीय स्वरलिपि में प्रकाशन संग्रह और अकादेमी के बुलेटिन का विशेषांक निकालने की तैयारियां चल रही हैं। 'चित्रांगदा' को मणिपुरी नृत्य शैली में एक नृत्य नाटक के रूप में मणिपुर नृत्य कालेज, इम्फाल के जरिये प्रस्तुत कराया जायेगा।

नृत्य, नाटक, संगीत और फिल्म के क्षेत्र में प्रसिद्ध भारतीय कलाकारों का एक परिचय-ग्रंथ (हूज हू) संदर्भ के लिये निकालने की योजना बनाई गई है। सूची तैयार की जा रही है।

compiled and created by Bhartesh Mishra

साहित्य

साहित्य अकादेमी

काश्मीरी शायरी (संपादक मुहीउद्दीन हजनी) नामक संग्रह काश्मीरी लेखक सम्मेलन के अवसर पर बख्शी गुलाम मुहम्मद के हाथों औपचारिक रूप से प्रकाशित कर दिया गया।

नीचे लिखे प्रकाशन और निकाले गये :—

गुजराती : गुजराती टुनकी वार्ता (कहानी संग्रह); संपादक—एम० एम० झावेरी, भुतावल (इब्सन के घोस्ट्स का अनुवाद) अनुवादक—गुलाबदास ब्रोकर।

सिन्धी: साहित्यिक पुष्प (दीवान कौरामल की गद्य रचनाओं का संग्रह); संपादक—मनोहर दास कौरामल।

तामिल : ओथेलो का ए० सी० चेट्टियार द्वारा अनुवाद।

उर्दू : भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कौशाम्बी की मराठी रचना का प्रकाश पंडित द्वारा अनुवाद)।

टैगोर के पांच सौ गीतों का इन्द्र देवी चौधरानी द्वारा संपादित गीत पंचशती नामक संग्रह (देवनागरी लिप्यंतर) प्रकाशित किया गया।

दक्षिणी प्रादेशिक कार्यालय द्वारा श्री एम० ए० गोविन्दराजन् की अध्यक्षता में अक्तूबर में एक साहित्य गोष्ठी आयोजित की गई। तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम भाषाओं के तीन-तीन प्रमुख उपन्यासों के बारे में निबंध पढ़े गये।

मानव विज्ञान

मानव विज्ञान विभाग

अनेक अध्ययन-पत्र प्रकाशित किये गये। सारवान् प्रवृत्तियों संबंधी अ० भारतीय पड़ताल में प्रगति हो रही है। हिन्दी और बंगला में समाज शास्त्रीय ग्रंथ-सूची पर काम चल रहा है। मानव-विज्ञान शास्त्र की उर्दू शब्दावली इकट्ठी की जा रही है। टोड़ा और नायर जातियों की विवाह रीतियों पर एक पत्र तैयार किया गया है। बेगमपुर और नादिया का जनसंख्या-अध्ययन पूरा हो गया है, नागपुर की महार जाति संबंधी काम प्रगति पर है। महारों का पी० टी० सी० टैस्ट और वर्णांधता संबंधी अध्ययन पूरा हो गया है। मिदनापुर के राजवंशियों का भोजन-सर्वेक्षण संबंधी पत्र पूरा हो गया है। आदिवासियों के पकाने के तरीके से विटामिन सी० के नष्ट हो जाने और चावल में विटामिन बी०-एक के बने रहने संबंधी रिपोर्ट तैयार हो गई है। खान-पान संबंधी पड़ताल का एक सारांश भी तैयार किया गया है।

परिषद् की हलचलें

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

विदेश जाने वाले छात्रों के लिये भारतीय संस्कृति के प्रारम्भिक ज्ञान संबंधी पाठ्यक्रमों का कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली में जुलाई में क्रमशः प्रो० सिद्धान्त, श्री सुब्रह्मण्यम् डा० केसकर द्वारा उद्घाटन किया गया। मद्रास में पढ़ने वाले विदेशी छात्रों के लिये एक स्वागत-समारोह आयोजित किया गया। जर्मनी में धर्म-इतिहास सम्मेलन में भाग लेने के लिये हिन्दू विश्वविद्यालय की एक लेक्चरर श्रीमती शोभारानी बसु को यात्रा-अनुदान दिया गया। दिल्ली में पढ़ने वाले बावन विदेशी छात्रों के लिये हिन्दी कक्षायें आयोजित की गई हैं। कई छात्रवृत्तियां प्रदान की गई और भाषण आयोजित किये गये।

जनसंख्या की दृष्टि से हमारा देश बहुत बड़ा है, जिसमें विभिन्न भाषाओं के बोलने-वाले, विभिन्न धर्मों के अनुयायी और विभिन्न परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों को मानने वाले लोग रहते हैं। ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक कारणों से हमारा सकल देश और उसके निवासी एकता की भावना से संचालित होते रहे हैं। फिर भी इस भावना को समृद्ध करना और भावनात्मक समन्वय के लिये अनुकूल तत्वों को प्रोत्साहन देना इतना बड़ा कार्य है जिसे हम केवल संयोग पर ही नहीं छोड़ सकते। इसके लिये सुविचारित योजनाबद्ध कार्यक्रम की आवश्यकता है।

—डा० राजेन्द्र प्रसाद
('भारती संगम' के उद्घाटन के अवसर पर)

compiled and created by Bhartesh Mishra

लोक मंच

संस्कृति की शुरू से ही यह नीति रही है कि वह सांस्कृतिक विचारों के वहन का एक माध्यम बने। साथ ही उसकी आकांक्षा भारतीय संस्कृति के विभिन्न विवादग्रस्त पहलुओं के बारे में एक मंच बनने की भी रही है। संस्कृति में अब तक उठाए गए प्रश्नों के बारे में हम पाठकों के कुछ पत्र नीचे दे रहे हैं। इन पत्रों के उत्तर में या स्वतंत्र रूप से अन्य समस्याओं को उठाने वाले पत्रों का हम स्वागत करेंगे। इस प्रकार के पत्रों को बढ़ावा देने के लिए हम उत्कृष्ट पत्रों को पुरस्कार भी देते हैं। पत्रों में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने विचार होते हैं, 'संस्कृति' के नहीं। इस अंक में निम्न पत्र-प्रेषकों को पुरस्कार दिया जा रहा है : क ख ग और पल्लविनी।

सम्पादक

: एक :

वृन्द-नृत्य

प्रिय संपादक जी,

वृन्द-नृत्य के औचित्य—अनौचित्य के बारे में संस्कृति के पिछले दो-तीन अंकों में बहुत कुछ कहा जा चुका है। मेरा विचार है कि आपके अधिकांश उद्‌बुद्ध पाठक और सामान्य देशवासी यह मानते हैं कि वृन्द-नृत्य का पुनरुत्थान हमारी आज की परिस्थितियों के लिए नितान्त आवश्यक है। ऐसी स्थिति में हमें अब कुछ और आगे बढ़ना चाहिए और वृन्द-नृत्य के पुनरुत्थान के लिए एक निश्चित योजना बनानी चाहिए।

मेरे विचार से संगीत नाटक अकादेमी को इस दिशा में कुछ ठोस कदम उठाने चाहिएं। सबसे पहला काम तो एक ऐसी विशेषज्ञ समिति का नियुक्त किया जाना है, जो देश के विभिन्न प्राचीन और परंपरा-शेष वृन्द-नृत्यों के रूपों का परीक्षण करे और यह सिफ़ारिश करे कि इनमें से कौन-कौन नृत्य राष्ट्रीय-वृन्द के रूप में अपनाए जा सकते हैं।

यह समिति सुझाए गए राष्ट्रीय वृन्द-नृत्य के विकास और प्रचार के लिए एक कार्यक्रम भी सुझा सकती है। इस कार्यक्रम में उन राष्ट्रीय वृन्द-नृत्य या नृत्यों के पूरे देश में प्रचार की एक ठोस योजना होनी चाहिए। मेरा अपना विचार है कि देश की भावगत एकता की दिशा में भी एक या कुछ चुने हुए राष्ट्रीय वृन्द नृत्य बड़े ही सहायक सिद्ध होंगे।

आपका—
क ख ग

नई दिल्ली

व्यवसायी रंगमंच

: दो :

प्रिय संपादक जी,

पृथ्वीराज की नाट्यमंडली अपना काम बन्द कर रही है, यह पढ़ कर मुझे बहुत दुःख हुआ। ऐसी सजीव नाट्यमंडली को भी इस देश में जीवित रह सकने में कठिनाई है, यह बड़े ही कष्ट की बात है। आज सिनेमा इतना पनप रहा है कि देश का शायद ही कोई कोना सिनेमा की असंयत विकृत-संस्कृति से अछूता रह गया हो। इसका अर्थ है कि जनता सामान्य मनोरंजन के प्रति उदासीन नहीं है और वह उन साधनों को आर्थिक दृष्टि से समर्थ बनाने में अपनी कमाई का एक हिस्सा खर्च कर सकती है।

व्यवसायी रंगमंच सिनेमा की स्पर्धा में जिस दिन टिक जाएगा, वह दिन देश के मनोरंजन-उपादानों में संयम और सुधार का एक महान् पर्व होगा। वह दिन शीघ्र से शीघ्र लाने के लिए हम सभी पढ़े-लिखे लोगों को अग्रसर होना चाहिए। प्रत्येक बड़े नगर में एक व्यवसायी रंगमंच चालू करने के लिए और उसे आत्मनिर्भर बनाने के लिए सरकारी सहायता तो एक प्रारंभिक कदम ही मानी जा सकती है। इसके आगे भी कुछ करने की एक ठोस योजना होनी चाहिए।

मेरा सुझाव है कि व्यवसायी रंगमंच की स्थापना के साथ-साथ उसके प्रचार का काम भी सुदृढ़ रूप से किया जाए। उत्साही नाटक प्रेमियों को एक रंगमंच-क्लब बनाना चाहिए, जिसका काम लोगों से यह प्रतिज्ञा कराना हो कि वे यदि तीन फ़िल्म देखेंगे तो एक नाटक भी अवश्य देखेंगे। प्रचार के रूप में टिकट भी अग्रिम बेचे जा सकते हैं। जिस दिन रंगमंच का यह प्रचार रिक्शे-तांगे वालों

compiled and created by Bhartesh Mishra

और सामान्य मजदूरों तक—जनसाधारण तक—पहुंच गया और उन्होंने एक नाटक देखना भी स्वीकार कर लिया, उसी दिन व्यवसायी रंगमंच स्थायी और स्वावलंबी हो जाएगा।

आपकी—

चंडीगढ़ पल्लविनी

: तीन :

प्रिय संपादक जी,

व्यवसायी रंगमंच के प्रेमियों को रंगमंच के प्रचार की भी वैसी ही व्यवस्था करनी चाहिए, जैसी सिनेमा वालों की प्रचार व्यवस्था है तभी रंगमंच सिनेमा से टक्कर ले सकता है। सिनेमा की सूचनाओं की भांति रंगमंच की सूचनाएं भी दैनिक पत्रों आदि में प्रभावशाली रूप से निकलनी चाहिएं। छोटे नगरों में सिनेमा की भांति ही उसके भी प्रचार-जुलूस निकलने चाहिएं। स्थानीय मेलों, प्रदर्शनियों आदि में भी सिनेमा की भांति नाटकों का भी नियमित प्रदर्शन होना चाहिए।

आपका—

रोहतक देशराज

: चार :

कलाकृतियों की बिक्री

प्रिय संपादक जी,

यह बड़े ही खेद की बात है कि हमारे कलाकार अपनी कृतियों की रचना को छोड़ फ़रनीचर खिलौने और कपड़ों पर प्रिंट की डिज़ाइनें बनाने के लिए उद्यत हों। कला के ह्रास का समाचार भी बड़ा ही खेदजनक है। क्या आज हम इतने भौतिकवादी हो गए हैं कि औद्योगिक-तकनीकी अभ्युत्थान की दौड़ में हम अपने स्थायी सांस्कृतिक मूल्यों को ही बिसरा बैठे हैं?

इस दिशा में हमें शीघ्र ही कुछ करना चाहिए।

आपका—

नागपुर प्रणयेश

: पांच :

प्रिय संपादक जी,

जिस देश में कलाकार फ़रनीचर की डिज़ाइनें बनाएं, चित्रकार किताबों के आवरण, और विज्ञापन की डिज़ायनें बनाने में अपनी प्रतिभा का व्यय करें, मूर्तिकार स्थानीय नेताओं की मूर्तियां बनाकर अपनी साधना की इतिश्री समझ लें और कविता भी प्रचार की पर्याय हो जाए—उस देश की सांस्कृतिक विरासत कितनी भी बड़ी क्यों न हो, मेरे विचार से वह देश कभी भी अपनी संस्कृति का गर्व नहीं कर सकता।

इस दिशा में जल्दी ही कुछ किया जाना चाहिए। जनसाधारण और राष्ट्रीय सरकार दोनों को ही इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए कुछ करना चाहिए।

आपका—

अनुराधापुर प्रद्युम्नकुमार

कला का ह्रास

: छ :

प्रिय संपादक जी,

स्वतंत्र भारत के स्वप्न में बहुतों को यह आशा थी कि स्वाधीनता के साथ-साथ देश के कलाकारों को भी अभिव्यक्ति की स्वाधीनता मिल जाएगी और स्वाधीनता कला और संस्कृति के क्षेत्र में पुनर्जागरण की जननी होगी। किन्तु यह निश्चय ही बड़ी दयनीय बात है कि भारत की स्वाधीनतोत्तर कला एक विशिष्ट स्थान प्राप्त नहीं कर सकी है। यही नहीं वह दिन-दिन ह्रासोन्मुख होती जा रही है। जैसा श्री विचारक ने संस्कृति के पिछले अंक में लिखा है, हमारी वार्षिक राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी भी कलाकारों में एक चेतना फूंक सकने में समर्थ नहीं हो रही है।

मेरा विचार है कि अगले पंचवर्षीय आयोजन में कलाओं के क्षेत्र में एक पुनर्जागरण लाने के लिए भी कुछ व्यवस्था होनी चाहिए।

भवदीय—

कानपुर क्षितिपाल

: सात :

प्रिय संपादक जी,

कला के ह्रास के बारे में श्री विचारक जी ने जो विचार व्यक्त किए हैं, उन पर सम्यक् विचार किया जाना चाहिए।

जब हम देश के प्रत्येक क्षेत्र में विकास और समृद्धि की योजनाएं बना रहे हैं, तो यह उचित ही है कि कलाओं के विकास की ओर भी समुचित ध्यान दिया जाए।

कला के क्षेत्र में इस ह्रासोन्मुखता के कारण क्या हैं, इसका निर्धारण करने के लिए एक समिति जल्दी ही नियुक्त की जानी चाहिए। इस समिति का यह कार्य हो कि वह प्रत्येक कला के श्रेष्ठ और नवोदित कलाकारों से एक व्यापक प्रश्नोत्तर द्वारा यह पूछे कि उनकी प्रवृत्तियों के कुंठित होने का कारण क्या है। तदनुसार वह समिति निवारण के लिए उपाय सुझा सकती है।

आपका—

जयपुर राकेश

: आठ :

प्रिय संपादक जी,

कला के ह्रास की चर्चा मुझे तो विषयनिष्ठ लगती है। एक व्यक्ति की दृष्टि में जो ह्रास है, वही दूसरे के लिए विकास का प्रतीक हो सकता है। विशेषत: चित्रकला के क्षेत्र में तो यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि वह ह्रासोन्मुख है। स्वाधीनता के बाद से हमारे चित्रकारों को अपनी कला के प्रदर्शन के लिए और अपनी अभिव्यक्ति के विकास के लिए अनेक अवसर प्राप्त हो गए हैं।

एक बात और है। 'कला ह्रासोन्मुख है' का नारा कलाकारों के वास्तविक हितों के प्रतिकूल भी जा सकता है। ऊपरी सहायता से आप प्रतिभाशाली कलाकारों को जन्म नहीं दे सकते। इसलिए जो कुछ प्राप्त है, उसी में से सर्वश्रेष्ठ को चुनकर हमें सन्तुष्ट होना चाहिए।

आपका—

गाजियाबाद आलोक

compiled and created by Bhartesh Mishra

सांस्कृतिक समाचार

साहित्य

हिन्दी विश्वकोष राष्ट्रपति को भेंट

हिन्दी विश्वकोष के प्रथम खण्ड का प्रकाशन होने पर उसके समर्पण समारोह का आयोजन राष्ट्रपति भवन में भव्यरूप से सम्पन्न हुआ। यह ग्रन्थ राष्ट्रपति को भेंट किया गया। कार्यक्रम भारतीय परम्परा के अनुसार जमीन पर बैठ कर ही किया गया। समर्पण कार्य केन्द्रीय मंत्री श्री गोविन्दवल्लभ पंत ने किया। वह विश्वकोष सम्पादान समिति के अध्यक्ष हैं।

राष्ट्रपति ने इस अवसर पर कहा कि हिन्दी संसार में बहुत से प्रयत्न हो रहे हैं। हिन्दी भाषा व साहित्य को समृद्ध बनाने का विशेष कार्य चल रहा है। यह सर्वथा उचित है। (न० भा० 17-10)

स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास

स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास का प्रथम खण्ड तैयार हो गया है और अनुमान है कि 26 जनवरी से पहले छप कर बाजार में आ जायेगा।

इस इतिहास के सम्पादक डा० ताराचन्द ने बतलाया कि स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास तीन भागों में निकलेगा। पहले भाग में 1857 तक का विवरण है जिसमें दिखलाया गया है कि भारत कैसे गुलाम हुआ।

इतिहास से सम्बन्धित बहुत से कागजात सरकारी पुस्तकालयों और संग्रहालयों में नहीं हैं और अनेक ब्रिटिश वायसरायों के कागजात ब्रिटेन में हैं। फिर भी वह स्थान-स्थान पर जाकर उनका अध्ययन करने का प्रयत्न कर रहे हैं। (न० भा० 12-10)

संपूर्ण गांधी वाङ्मय का चौथा ग्रन्थ प्रकाशित

केन्द्रीय सूचना और प्रसारण मंत्रालय के पब्लिकेशनस डिवीजन ने हाल ही में गांधी-वाङ्मय का चौथा ग्रन्थ प्रकाशित किया है। इससे गांधी जी के जीवन में हुए परिवर्तनों का पता चलता है और इन परिवर्तनों को समझने में सहायता मिलती है।

यह ग्रंथ 1903 से 1905 तक दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी के जीवन और कार्य का सच्चा और मूल्यवान् अभिलेख है। यह न्याय की प्राप्ति के लिए वहां के भारतीय समाज के संघर्ष की झांकी प्रस्तुत करता है। (न० भा० 3.10)।

श्री टंडन को राष्ट्रपति द्वारा अभिनन्दन ग्रंथ भेंट

राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने 78 वर्षीय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन की देश सेवा, साहित्य आराधना एवं कर्त्तव्य निष्ठा के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए 750 पृष्ठों का एक अभिनन्दन ग्रंथ भेंट किया। इस अवसर पर राष्ट्रपति का संस्कृत के पंडितों ने वेदमन्त्रों के उच्चारण के साथ स्वागत किया। समारोह में राष्ट्रपति ने कहा कि हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा में टंडन जी की तत्परता उनकी लगन का एक विलक्षण उदाहरण है। देश की तमाम हिन्दी सेवी संस्थाओं ने उनके सत्परामर्श और पथ-प्रदर्शन से लाभ उठाया है। अभिनन्दन-ग्रन्थ का मूल्य तीस रुपये हैं, और उसकी आय दिल्ली में पुरुषोत्त हिन्दी भवन बनाने में कम की जायेगी। ग्रंथ बड़ा ही संग्रहणीय और उपादेय है। (न० भा० 24.10)

हिन्दी पुस्तकों की प्रकाशन संख्या में कमी

प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार भारत में सन् 1959-60 में नई हिन्दी पुस्तकों की प्रकाशन संख्या 1958-59 की तुलना में कम रही। सन् 1959-60 में केवल 3,751 नई हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित की गईं जबकि 1958-59 में 3,896 प्रकाशित की गई थीं। ये आंकड़े यूनेस्को ने प्रकाशित किए हैं।

यह भी बताया गया है कि 1959-60 में अंग्रेजी में 12,585 नई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जब कि 1958-59 में 4009 नई पुस्तकें छपी थीं। यह संख्या सन् 1960 में तिगुनी बढ़ गई। (न० भा० 27.9)

दिल्ली

राष्ट्रीय-पुस्तक समारोह

अखिल भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ ने 1 नवम्बर से 14 नवम्बर तक राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह मनाया। समारोह का मुख्य उद्देश्य दैनिक जीवन में पुस्तकों के महत्व और उपयोगिता को समझाकर उनके प्रचार-प्रसार को बढ़ावा देना तथा उन्हें लोकप्रिय बनाना था। संघ के प्रधान श्री रामलाल पुरी ने एक संदेश में कहा कि हमारे देशवासियों में पुस्तकें खरीदकर पढ़ने की आदत बहुत कम है। हमें सबका कर्त्तव्य है कि यदि हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन देखना चाहते हैं, तो उसके भण्डार को बढ़ाने की दिशा

compiled and created by Bhartesh Mishra

में जी-जान से जुट जाएं । जन-साधारण में पुस्तकों को खरीदने और पढ़ने की रुचि तेजी से जागृत होनी भी बहुत आवश्यक है । हर हिन्दी-प्रेमी का कर्त्तव्य है कि वह अधिक-से-अधिक पुस्तकें खरीदे और उन्हें पढ़े ।

उन्होंने अपील की कि 'राष्ट्रीय-पुस्तक-समारोह' के इस शुभावसर पर प्रत्येक व्यक्ति यह निश्चय करे कि वह अपनी आय का कुछ भाग पुस्तकों पर अवश्य खर्च करेगा ।

संस्कृत पुस्तकों के सस्ते संस्करण

केन्द्रीय संस्कृत मण्डल ने सिफ़ारिश की है कि श्री शंकराचार्य के सारे ग्रन्थों के सस्ते संस्करण प्रकाशित किए जायें । मण्डल ने यह भी अनुरोध शिक्षा मंत्रालय से किया है कि जनता के लाभ के लिए बाल्मीकि रामायण तथा महाभाष्य (सटीक) के भी सस्ते संस्करण प्रकाशित किये जायें । इसके अतिरिक्त संस्कृत-अंग्रेजी कोष (आप्टे) उपनिषदों पर कर्नल जैकब की पुस्तक, सिद्धान्त कौमदी तथा पाणिनि की अष्टाध्यायी के सस्ते संस्करण प्रकाशित किये जायें । (न० भा० 29.8)

तुलसीदास का जन्म स्थान

पं० बेदव्रत शास्त्री-कासगंज निवासी ने चालीस वर्ष तक निरन्तर अनुसन्धान कार्य करने के पश्चात् गोस्वामी तुलसीदास के जन्म स्थान के सम्बन्ध में जो सामग्री संगृहीत की उसे लेकर उन्होंने यह सिद्ध किया कि तुलसीदास का जन्म स्थान शूकर-क्षेत्र—सोरों, जिला एटा था, न कि राजापुर (बांदा) । उन्होंने अपने कथन की पुष्टि में महत्वपूर्ण उद्धरण दिए हैं । (न० भा० 14.10)

पुस्तक प्रदर्शनी

नई दिल्ली की ऑल इंडिया आर्टस एण्ड क्राफ़्ट सोसाइटी हाल में अमेरिकी पुस्तक प्रदर्शनी और सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किया गया । समारोह का उद्घाटन भारतीय विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष श्री देशमुख ने किया । प्रदर्शनी में लगभग पांच हजार पुस्तकें अमेरिकी ढंग पर इस प्रकार सजायी गई हैं । जिससे उनमें दिलचस्पी रखने वाले दर्शक उन्हें उठा कर देख सकें । अमेरिका के राजदूत श्री बंकर ने भारत की पुरातन सभ्यता और संस्कृति को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की । (न० भा० 10.9)

पंजाब

पानीपत के तृतीय युद्ध पर ग्रंथ

पंजाब सरकार ने इतिहासकारों की एक समिति बनाई, जो पानीपत के तीसरे युद्ध के बारे में एक पुस्तक निकालेगी । (हि० टा० 7.8)

मैसूर

कलाकारों व विद्वानों को पेन्शन की योजना

बंगलौर में 7 अगस्त को मैसूर के मुख्य मंत्री श्री बी० डी० जत्ती ने पत्रकारों को बताया कि भारत सरकार मैसूर सरकार के इस सुझाव पर विचार कर रही है कि कलाकारों तथा विद्वानों को पेन्शन देने के लिए एक कोष की स्थापना की जाये ।

आपने यह भी प्रकट किया कि मैसूर सरकार ने सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार कर लिया है कि विपन्न स्थिति वाले बड़े साहित्यकारों और विद्वानों को पेन्शन के तौर पर आर्थिक सहायता दी जाए । (न० भा० 8.8)

राजस्थान

पांडुलिपियों का संग्रह

राजस्थान प्राच्य अनुसन्धान संस्था ने 1958-59 में 10,254 पांडुलिपियों का संग्रह किया । इनमें मैत्रणीयोपनिषद्, कल्पव्याकरण, याज्ञवल्क्य स्मृति, रघुवंश, सूतसंहिता और रमणी-बंध उल्लेखनीय हैं । प्रकाशित ग्रंथों में निम्न उल्लेखनीय हैं : ईश्वरविलासमहावाक्यम्, रस-दीपिका, पद्यमुक्तावली, काव्य-प्रकाश, युगलविलास और कविदर्पण (स्टे० 23-19)

संस्कृत के विद्वानों को आर्थिक सहायता

राजस्थान सरकार ने संस्कृत के विद्वानों को सहायता देने का निश्चय किया है । यह आर्थिक सहायता और पारितोषिक तीन प्रकार के हैं । साहित्य सृजन, जीवन निर्वाह तथा योग्यता । पारि-तोषिक की यह विविध सहायता राजस्थान निवासी संस्कृत के विद्वानों को राज्य के संस्कृत शिक्षा संचालक के द्वारा प्रदान की जायेगी । (न० भा० 20.8)

स्वीडन

नोबेल पुरस्कार

1960 का साहित्य का नोबेल पुरस्कार तिहत्तर वर्षीय फ्रांसीसी कवि सैंट जॉन परसे को दिया गया है । पुरस्कार का मूल्य दो लाख रुपए से कुछ अधिक है । यह 10 दिसम्बर को एक समारोह में दिया जायेगा । श्री परसे (मूल नाम अलेक्सिस लेजर) 1909 से कविता लिख रहे हैं । उनकी मुख्य कृति 'एनाबेस' है, जिसका अंग्रेजी में अनुवाद टी० एस० इलियट ने किया था । (स्टे० 27.10)

भाषायें

संस्कृत संस्थानों को आर्थिक मदद

गैर-सरकारी संस्कृत संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने के लिए भारत सरकार (शिक्षा मंत्रालय) ने अर्ज़ियां मांगी हैं । अर्जी देने की अन्तिम तारीख 31 अगस्त, 1960 रखी गई थी । यह अनुदान संस्कृत भाषा के विकास सम्बन्धी योजनाओं के लिए दिया जाता है ।

अनुदान के लिए अन्य जानकारी विशेष अधिकारी (संस्कृत) शिक्षा मंत्रालय, नई दिल्ली-2 से मिल सकती है । (न० भा० 9.9)

हिन्दी टायपराइटर का संशोधित कीबोर्ड

भारत सरकार ने हिन्दी टाइपराइटरों का संशोधित की-बोर्ड स्वीकार कर लिया है । इसका विवरण हिन्दी टाइपराइटर व

compiled and created by Bhartesh Mishra

टेली प्रिंटर समिति की दिसम्बर 1956 की रिपोर्ट में है। इस कुंजीपटल में ऐसी तरकीब है, जिससे देवनागरी और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों अंक छप सकें। इसके लिए सब से ऊपर की पंक्ति में तीसरी शिफ्ट (कल) लगाई गई है। (न० भा० 4.10)

पंजाब

हिन्दी तथा पंजाबी का विकास

पंजाब सरकार ने तीसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में हिन्दी व पंजाबी के विकास के लिये पन्द्रह लाख रुपए की राशि स्वीकृत की है। उर्दू भाषा के विकास के लिए एक लाख रुपये की राशि व्यय की जायेगी।

अब से हिन्दी व पंजाबी की पुस्तकों पर पुरस्कारों के साथ-साथ सर्वोत्तम उर्दू पुस्तकों पर भी इनाम दिए जायेंगे। जिला तथा राज्य स्तर पर उर्दू भाषा में साहित्यिक प्रतियोगिताओं के आयोजन भी किए जायेंगे। (न० भा० 13.10)

बिहार

हिन्दी में काम

बिहार सरकार द्वारा प्रसारित एक परिपत्र में बताया गया है कि 1 जून, 1960 से अंग्रेजी के बजाय हिन्दी भाषा में काम शुरू हो गया है। बिहार राजभाषा (संशोधन) कानून 29 नवम्बर, 1960 से लागू होने वाला है। (न० भा० 2.8)

मध्य प्रदेश

दक्षिण की भाषाओं का अध्ययन

गांधी स्मारक निधि मध्य प्रदेश द्वारा संचालित गांधी अध्ययन एवं तत्व प्रचार केन्द्र इन्दौर ने सूचित किया है कि इन्दौर में शीघ्र ही दक्षिण की चार भाषाओं : तेलुगू, कन्नड, तमिल, और मलयालम की अध्ययन कक्षायें आरम्भ की जायेंगी। इस योजना के अनुसार हिन्दी भाषियों के लिए दक्षिण की कोई एक भाषा सीखने की व्यवस्था की जायेगी जैसे-जैसे विद्यार्थी मिलते जायेंगे वैसे-वैसे सम्बन्धित भाषाओं की कक्षाएं प्रारम्भ की जायेंगी। (न० भा० 9.8)

कलायें और शिल्प

संगीत का धान की फसल पर प्रभाव

केन्द्रीय कृषि मंत्री डा० देशमुख ने बताया कि पांडिचेरी के कृषि निदेशालय ने भारत सरकार को सूचना दी है कि धान की फसल पर संगीत का प्रभाव पड़ता है। अन्नमलय विश्वविद्यालय के वनस्पति शास्त्र के अध्यक्ष श्री टी० सी० एन० सिंह के नेतृत्व में चार स्थानों पर जो प्रयोग किए गए हैं, उनसे यह सिद्ध हुआ है कि धान के उत्पादन में संगीत के प्रभाव से 22 से 58 प्रतिशत तक वृद्धि की जा सकती है तथा धान के पौधे की लम्बाई 30 से 62 प्रतिशत तक बढ़ सकती है।

(न० भा० 18.8)

उत्तर प्रदेश

कैलेंडरों की प्रदर्शनी

आर्ट एण्ड क्राफ्ट सोसाइटी, नजीबाबाद द्वारा आयोजित प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय कैलेंडर प्रदर्शनी में प्रथम पुरस्कार इस वर्ष जर्मन दूतावास द्वारा भेजे गये जर्मनी के प्रसिद्ध चित्रों पर दिया गया। इस पुरस्कार में कटक की कला का चांदी का सुन्दरतम कछुआनुमा इत्रदान भेंट किया गया।

एक अन्य पुरस्कार बिस्कुट कम्पनी, पूना को मुरादाबादी कलई (चांदी) की पालिश का घण्टा भेंट किया गया। (न० भा० 26.8)

दिल्ली

राजस्थानी कला प्रदर्शनी

शिक्षा मंत्री डा० श्रीमाली ने आधुनिक राजस्थानी कला की एक प्रदर्शनी का उद्घाटन किया। राजस्थान के आधुनिक कलाकारों की कृतियों की यह पहली प्रदर्शनी है। (न० भा० 14.10), राजपूत कलम अब भारतीय कला इतिहास की चीज़ बन गयी है। उसका वैभव, उसकी आकर्षता और उसकी रेखाओं की शक्ति अद्वितीय है उसके चित्र विश्वकला की अमूल्य निधि समझे जाते हैं।

इन चित्रों से न केवल कलाकारों की कल्पना-शक्ति, उनकी टेकनीकी बारीकी और रंग एवं रेखाओं की शक्ति तथा प्राणवत्ता का पता चलता है वरन् उन शासकों की महान् कला प्रियता का भी भान होता है, जिनके राजकाल में यह कला फली-फूली। (न० भा० 24.9)

छाया चित्रों की प्रदर्शनी

राजधानी में इस सप्ताह महान् कला समीक्षक डा० चार्ल्स फाबरी ने उड़ीसा के मन्दिरों की मूर्त्तियों के छाया चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित की। उन्होंने जहां अपने छाया चित्रों के माध्यम से उत्कल के देवमन्दिरों का सुव्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की है, वहाँ एक कुशल छाया चित्रज्ञ के रूप में उन्होंने उस छन्दोबद्ध गत्यात्मकता को पकड़ने की कोशिश की है, जो प्राचीन भारतीय कला की विशेषता रही है। नृत्य और संगीत की मूल भावना भारतीय चित्र और मूर्त्तिकला में प्रतिबिम्बित है। (न० भा० 24.9)

बाल चित्र कला प्रदर्शनी

शंकर अन्तर्राष्ट्रीय बाल चित्र कला प्रदर्शनी का अखिल भारतीय ललित कला और शिल्प भवन, नई दिल्ली में उद्घाटन करते हुए तारीख 11 अगस्त को स्वराष्ट्र मंत्री पं० गोविन्दवल्लभ पंत ने कहा कि बच्चों की भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उन्हें आवश्यक सुयोग मिलना चाहिए। बच्चों की प्राकृतिक जिज्ञासा एवं मौलिक अभिव्यक्ति में किसी प्रकार का हस्तक्षेप उनके व्यक्तित्व के विकास में बाधक होता है।

इस अवसर पर भारत स्थित पोलैंड के राजदूत श्री काटजली ने बताया कि इस प्रदर्शन में विभिन्न देशों के बच्चों के 1420 चुने हुए कला चित्र रखे गए हैं। उन्होंने कहा बच्चों में समान

compiled and created by Bhartesh Mishra

भावाभिव्यक्ति होती है। आस-पास की परिस्थितियां एवं सुख-दुःख की छाप उनकी कृतियों में प्रकट होती है। उनके चित्रों से स्पष्ट है कि वे शांति एवं सुख चाहते हैं। (न० भा० 212.8)

गुड़िया प्रदर्शनी

दिल्ली में गुड़िया और खिलौना प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए वाणिज्य मंत्री श्री नित्यानन्द कानूनगो ने कहा कि भारत में गुड़िया कला अनादि काल से है। आजकल इसके माध्यम से देश और विदेश में भारतीय कला एवं संस्कृति का प्रचार करने की अपरिमित सम्भावनाएं हैं। कला की दृष्टि से भारतीय गुड़िया किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में सफल हो सकती है। गुड़ियों के माध्यम से ही जापान दुनियां भर में अपनी कला एवं संस्कृति की छाप डालने में कितना सफल हुआ है। भारत में इस कला को पुनर्जीवित करना अब जरूरी हो गया है।' (न० भा० 27.8)

बम्बई

चित्रकला प्रदर्शनी

इसी सप्ताह मंगलौर के श्री के० एम० शेनाय ने बम्बई की जहांगीर आर्ट गैलरी में अपने चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित की। उनकी कला को देखने से पता चलता है कि कलाकार को अपने व्यक्तिगत अनुभव और दृष्टि से ही चित्रित करना अभीष्ट है। उनकी कृतियों में विविधता होने के साथ-साथ दर्शक-कौतूहल और आकर्षण से कभी दूर नहीं होता। (न० भा० 10.9)

हिमाचल प्रदेश

शिमला में ललित कला संस्थान

हिमाचल प्रदेश के लेफ्टीनेंट-गवर्नर श्री बी० बी० सिंह ने गत शनिवार को नाहन में घोषित किया कि तीसरी योजनावधि में प्रदेश में ललितकला संस्थान की स्थापना की जायेगी। लेफ्टीनेंट गवर्नर द्वितीय हिमाचल प्रदेश नाटक गोष्ठी का उद्घाटन कर रहे थे। (ना० भा० 11.10)

"अपूर संसार" पुरस्कृत

सत्यजित राय की 'अपूर संसार' को इस साल के एडिनबरा फिल्म समारोह में योग्यता का डिप्लोमा मिला है। समारोह में अड़तीस देशों के 244 फिल्म शामिल किए गए थे। ब्रिटिश फिल्मों को छः डिप्लोमा और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के फिल्मों को चार डिप्लोमा मिले हैं। (ए० रि० 1-7-10)

कनाडा

विदेश में भारतीय नृत्यकला की सराहना

आजकल भारतीय नृत्यांगना सुश्री इन्द्राणी रहमान अमेरिका में अपनी कला प्रदर्शित कर रही हैं। न्यूयार्क हेराल्ड ट्रिब्यून ने उनकी नृत्य कला की सराहना करते हुए लिखा है कि वे एक अत्यधिक सुन्दर महिला तथा सिद्धहस्त नृत्य विशारदा हैं।

शिकागो के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक मेले में, जिसमें भारत का राष्ट्रीय मण्डप था, भारतीय नृत्य मण्डली की प्रशंसा करते हुए विदेशी दर्शकों ने उन्हें सुकुमारता और सौंदर्य की प्रतिमा तथा प्राच्य नृत्य की देवी तक कह डाला। समाचार पत्र ने भरत-नाट्यम्, कुचीपुडी और ओडिसी शैली के नृत्य में सम्मिलित नर्तकों की विशेष सराहना की। (न० भा० 27.8)

पुरानी ऐतिहासिक इमारतों की मरम्मत

केन्द्रीय वैज्ञानिक अनुसन्धान और सांस्कृतिक कार्य मंत्रालय ने यह व्यवस्था की है कि चालू वित्तीय वर्ष में दो लाख रुपए ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और कलात्मक दृष्टि से महत्व-पूर्ण सौ साल से कम पुरानी इमारतों की मरम्मत आदि के लिए खर्च होंगे। यह रुपया उन संस्थाओं को आर्थिक सहायता के रूप में दिया जायेगा, जो उक्त प्रकार के भवनों की देख-भाल करती है। जिन भवनों की मरम्मत, बहुत जरूरी है, उन्हें प्राथमिकता दी जायेगी। (न० भा० 19.8)

पुरातत्व

आन्ध्र प्रदेश

सातवाहन युग के सिक्के

दूसरी सदी ईसवी के इक्ष्वाकु (सातवाहन) वंश के 277 सिक्के ओंगोल के पास मिले हैं। इससे अंधकार युग की अनेक बातों पर प्रकाश पड़ेगा। (मेल, 22.9)

उत्तर प्रदेश

गुप्त पूर्व युग का मन्दिर

मथुरा के कटरा केशवदेव क्षेत्र में, जहां कृष्ण का जन्म हुआ बताया जाता है, एक स्मारक की नींव खोदते समय एक पुराने मन्दिर का गर्भगृह तथा एक सिंहासन मिला है। मन्दिर पूर्व-गुप्त युग का बताया जाता है। आठवीं सदी का एक शिला लेख भी मिला है। (टा० ई० 27.9) गर्भगृह की दीवार में गुप्तकालीन ईंटों का प्रयोग किया गया है। सिंहासन लाल पत्थर का बना हुआ है। पुरातत्वज्ञों का अनुमान है कि खुदाई में प्राप्त गर्भगृह 12वीं शती में महाराज वीरदेव द्वारा निर्मित है जिसके खण्डहरों के ऊपर 16वीं शती में ओरछा नरेश ने अपना मन्दिर बनवाया था। राज्य सरकार के आदेश पर यहां खुदाई आरम्भ की जायेगी। (न० भा० 23.9) बाद की खुदाई में मन्दिर का एक द्वार, जिसमें पत्थर की चौखट लगी है, निकला है। वहां के ट्रस्ट ने पत्थर के सिंहासन के नीचे खुदाई कराई, तो एक पत्थर की पेटी मिली, जिसमें पूजा आदि का सामान निकला। (न० भा० 4.10)

तीन राष्ट्रीय स्मारक प्रदेश सरकार को सौंपे गये

लखनऊ के कदम रसूल और गुलिस्तान एरम और चुनार का किला केन्द्र सरकार ने प्रदेश सरकार को सौंप दिये हैं। (हि० टा० 59)

compiled and created by Bhartesh Mishra

प० बंगाल

पश्चिम बंगाल में प्रागैतिहासिक वस्तुओं की खोज

पश्चिमी बंगाल के पुरातत्व निदेशालय ने राज्य के भिन्न-भिन्न स्थानों में जो खोज की है, उसमें उसे काफी सफलता मिली है। मुख्यत: गंगा के मुहाने के क्षेत्र में ऐतिहासिक-महत्व की कुछ ऐसी चीजें पाई गई हैं, जिनसे पाषाण युगीन बंगाल की संस्कृति का पता चलता है।

राज्य सरकार का पुरातत्व निदेशालय अब आदि गंगा और विद्याधरी की घाटियों में नियमित और व्यवस्थित ढंग से खोज कर रहा है। चन्द्रकेतुगढ़ में मिट्टी की एक अलभ्य मूर्त्ति मिली है जो उस समय की मूर्त्तिकला का परिचय देती है। अभी खुदाई का काम जारी है। (न० भा० 12.10)

मद्रास

विष्णु की मूर्त्ति

गोदावरी (राजामुंड्री) स्टेशन पर खुदाई के समय विष्णु की डेढ़ फीट लम्बी मूर्त्ति मिली है, जो अनुमानत: छ: सौ साल पुरानी है। (मेल, 8.10)

संयुक्त अरब गणराज्य

बहुमूल्य प्राचीन वस्तुएं मिलीं

प्राचीन वस्तु विभाग के निर्देशक डाक्टर अवनीअलदाजानी ने अमान में 21 सितम्बर को बताया कि नाबलुस में खुदाई के दौरान में 500 व 700 संवत् ईसा पूर्व के बर्तनों के टुकड़े, इत्र रखने की शीशियां तथा चीनी मिट्टी के कई एक सुन्दर तैल लैम्प मिले हैं।

इन अवशेषों का ऐतिहासिक दृष्टि से इसलिए भी बहुत अधिक महत्व है क्योंकि ये मावलुस के इतिहास पर प्रकाश डालेंगे। (न० भा० 22.9)

नुबिया के स्मारकों की रक्षा

आस्वान (मिस्र) बांध बनने से नुबिया के जिन प्रसिद्ध मन्दिरों के डूब जाने का खतरा पैदा हो गया है, उनमें से पहले मन्दिर को सुरक्षित स्थान पर पहुंचाने का काम शुरू हो गया है। इन मन्दिरों की सुरक्षा का आन्दोलन संयुक्त राष्ट्र संघ की शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति संस्था ने चलाया है। देवोद के मन्दिर को उखाड़ने और स्थानान्तरित करने का काम दो स्थापत्य-कलाविदों की देख-रेख में चल रहा है। (न० भा० 1.10)

सोवियत संघ

पाषाण युग की ड्राइंग

दक्षिण यूराल की एक नदी बेलाया के किनारे क्योबा में बहुत पुरानी गुहा-ड्राइंग का पता चला है। ये घोड़ों और आदिम महापशुओं की है। (टा० इं० 27.10)

दिल्ली

कलावीथी और पुस्तकालय

नई दिल्ली महापालिका ने तीसरी पंचवर्षीय योजना में एक सार्वजनिक पुस्तकालय और एक कलावीथी स्थापित करने का निश्चय किया है, जिस पर लगभग साढ़े-बारह लाख रुपये खर्च किये जायेंगे। (टा० इं० 20.8)

शिल्प संग्रहालय

एक आधुनिक तरीके के नये भवन में एक शिल्प संग्रहालय खोलने की योजना बनाई गई है। इसमें हस्तशिल्प की वस्तुओं, वस्त्र, आभूषण, खिलौनों, गुड़ियों, कठपुतलों, चित्रों, मिट्टी के खिलौनों आदि का प्रदर्शन किया जायेगा। इस समय अधिकारियों के पास लगभग बारेह हजार प्रदर्श्य हैं।

(टा० इं० 22.9)

राजस्थान

जयपुर संग्रहालय का पुनर्गठन

जयपुर के संग्रहालय का, जो 1883 में संस्थापित होने के कारण देश के पुराने व प्रसिद्ध संग्रहालयों में एक है, अब नवीकरण व पुनर्गठन किया जा रहा है।

डाक्टर सत्यप्रकाश जो संग्रहालय व पुरातत्व विभाग के अधीक्षक हैं, अमेरिका से अध्ययन करके आये हैं। यह पुनर्गठन उन्हीं की देख-रेख में हो रहा है। इस संग्रहालय को राजस्थान के इतिहास भूगोल और उसकी संस्कृति तथा कला के प्रदर्शन के लिये मूर्त व जीवन्तरूप दिया जा रहा है। नीचे के कक्ष में राजस्थान की वेशभूषा व सभ्यता की प्रदर्शक चित्र व मूर्त्तियां लगाई जा रही हैं, जैसे महाराना प्रताप, दुर्गादास राठौर, भामाशाह आदि का जीवन व सम्बन्धित इतिहास बड़े चित्रों में प्रदर्शित किया जायेगा। और इसी प्रकार के कक्ष मीरा जैसे सन्त कवियों व सांस्कृतिक आन्दोलनों के अग्रणी लोगों के लगाये जायेंगे। (न० भा० 16.8)

उत्तर प्रदेश

साहित्यकारों के स्मारक

उन्नाव में उत्तर प्रदेश सरकार के भाषा विशेषज्ञ डा० नारायणदास ने तुलसी जयन्ती समारोह में अध्यक्षीय भाषण करते हुए कहा कि विदेशों में साहित्यकारों, कलाकारों एवं लेखकों को सम्मानित किया जाता है। भारत में भी साहित्यकारों का सम्मान होना चाहिए और उनकी याद में स्मारक स्थापित किये जाने चाहियें।

उन्होंने कहा कि भारत में साहित्यकारों की कृतियों के संग्रहालय होने चाहिएं और विशेष कर रवीन्द्र, तुलसी और प्रेमचन्द आदि के साहित्य को सुरक्षित रखा जाना चाहिए। (न० भा० 9.8)

compiled and created by Bhartesh Mishra

प्रेमचन्द स्मारक

काशी नागरी प्रचारिणी सभा की प्रबन्ध समिति ने अपनी बैठक में प्रेमचन्द स्मारक के लिए उत्तर प्रदेश सरकार से आर्थिक महायता देने का अनुरोध किया है जिससे निर्माण कार्य पूरा हो जाए। अब तक केवल 15,000 रुपये स्मारक कोष में आया है। (न० भा० 23.9) नागरी प्रचारिणी सभा काशी के प्रधान सचिव श्री राजवली पांडेय ने एक स्पष्टीकरण में इस समाचार को निराधार बताया है कि प्रेमचन्द स्मारक के निर्माण का कार्य स्थगित कर दिया गया है ।

उन्होंने कहा है कि 17 सितम्बर को स्मारक के निर्माण का प्रश्न समिति के समक्ष विचाराधीन था । यह निश्चित किया गया था कि पहले चार दीवारी बना ली जाए और कुछ समय तक भवन-निर्माण स्थगित रखा जाए । स्मारक का कार्य स्थगित नहीं है । (न० भा० 18.10)

पंजाब

शहीद स्मारक

अमृतसर के स्वर्णमन्दिर से लगभग एक फर्लांग दूर स्थित जलियांवाला बाग में, जहां लगभग दो हजार व्यक्ति शहीद हुए थे, लाल पत्थर का एक पैंतालीस फुट ऊंचा स्मारक बनाया गया है । इस स्मारक को बनाने में लगभग तीन वर्ष का समय लगा है और इसे इतना सुदृढ़ बनाया गया है कि वह दो हजार वर्ष तक खड़ा रह सकेगा । इसमें नौ लाख रुपए खर्च होंगे । यह स्मारक भारत की एक दर्शनीय वस्तु होगी । स्मारक राष्ट्रीय ट्रस्ट के तत्वाधान में बना है । स्थापत्य कला विशारद श्री महेन्द्र और अमरिका के श्री बेंजामिन पोलक ने इसकी डिजाइन तयार की थी ।

(न० भा० 20.8)

शिक्षा

उत्तर प्रदेश

प्राचीन इतिहास के प्रति रुचि बढ़ी

इलाहाबाद में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल डा० रामकृष्ण राव ने भारत के प्राचीन इतिहास के प्रति बढ़ती हुई रुचि की सराहना की और कहा जब तक यह रुचि कायम रहेगी तब तक भारत के अतीत के सम्बन्ध में उपलब्ध दस्तावेजों में शंका नहीं की जा सकती।

आपने यह भी अपील की कि अतीत के इतिहास के प्रति रुचि के साथ-साथ सम्मान की भावना की भी आवश्यकता है ।

राज्यपाल ने कहा प्राचीन अवशेषों के अधिक संख्या में मिलने से अब हम पिछले हजारों वर्षों के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम हो गए हैं। (न० भा० 26.10)

सीरिया

विदेशी स्कूलों पर प्रतिबन्ध

संयुक्त अरब गणराज्य के सरकारी प्रवक्ता का कहना है कि यह निर्णय राष्ट्र के हित में किया गया है कि इस साल सीरिया में विदेशी स्कूलों को चालू रहने की इजाजत दी जाएगी। अरब गणराज्य के शिक्षा मंत्रालय-दमिश्क के निश्चयानुसार इस प्रकार के स्कूलों का संचालन संयुक्त अरब गणराज्य के नागरिकों के हाथों में होना चाहिए। (न० भा० 27.9)

अनुसन्धान

उत्तर प्रदेश

शोध व अन्वेषण कार्य

मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द ने उत्तर प्रदेश की पुनर्गठित विश्वविद्यालय अनुदान समिति की प्रथम बैठक में कहा कि विश्वविद्यालयों को गहन विषयों से सम्बन्धित बातों पर शोध और अन्वेषण में अधिक रुचि लेनी चाहिए । उन्होंने समिति को सलाह दी है कि वह विभिन्न विश्वविद्यालयों का निरीक्षण करके उनके अन्वेषण और शोध कार्यक्रमों को समन्वित करने का प्रयत्न करे । मुख्य मंत्री ने इस देश में राज्य की वैज्ञानिक शोध समिति के प्रयास की बड़ी प्रशंसा की । (न० भा० 20.8)

राजस्थान

राजस्थान के इतिहास का अनुसंधान

जयपुर में राजस्थान के इतिहास का अनुसंधान करने तथा विलुप्त ऐतिहासिक तथ्यों को ज्ञात करने के लिए राज्य सरकार द्वारा एक सलाहकार परिषद् गठित की गई है । इस सलाहकार परिषद् के अध्यक्ष राजस्थान विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त किए गए हैं।

प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री को सम्पादित करने के लिए भी एक सम्पादन मण्डल का गठन किया गया है । राज्य सरकार ने इस कार्य के लिए लगभग एक हजार रुपए की धनराशि की स्वीकृति दी है । इस अनुसंधान कार्य के अन्तर्गत राजस्थान के प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के इतिहास के सम्बन्ध में नवीन ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी प्राप्त की जाएगी । (न० भा० 1.10)

सांस्कृतिक सहकार

भारत-सोवियत रूस

समझौते का अनुसमर्थन

नई दिल्ली में बारह फरवरी को दोनों देशों के बीच जिस सांस्कृतिक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए थे, उसकी अनुसमर्थन लिखतों का विनिमय मास्को में किया गया और उक्त समझौता दस सितम्बर से प्रभावी हो गया। यह विनिमय भारत सरकार की ओर से मास्को स्थित भारतीय राजदूत श्री के० पी० एस० मेनन और सोवियत सरकार की ओर से वहां के विदेश उपमंत्री श्री जी० एम० पुश्किन द्वारा किया गया ।

समझौते के अनुसार दोनों देश आपसी सांस्कृतिक विनिमयों को बढ़ावा देंगे : वे शिक्षा, विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में और सांस्कृतिक सम्बन्धों में आपस के आदान-प्रदान को विकसित करेंगे । (ए० रि० 1-7-19)

compiled and created by Bhartesh Mishra

भारत-पाकिस्तान

भारत-पाकिस्तान मुशायरा

कराची में अगले वर्ष जनवरी, 1961 में एक भारत-पाकिस्तान मुशायरा का आयोजन किया जाएगा। इसके एक आयोजक पाकरेडियो के श्री अनवर बेहजद हैं। वह प्रमुख भारतीय शायरों को निमंत्रित करने के सिलसिले में बम्बई का दौरा कर रहे हैं। (न० भा० 30.10)

दिल्ली

अन्तर्राष्ट्रीय गुड़िया संग्रहालय

ब्रिटिश राजदूत श्री मैलकाम मैकडानल्ड ने उक्त संग्रहालय के लिए श्री शंकर पिल्ले को कई दर्जन ब्रिटिश गुड़ियां भेंट कीं। उन्होंने कहा कि श्री शंकर ने बालकला के विकास के लिए जो कुछ काम किया है, वह बड़ा ही सराहनीय है (टा० ई० 8.10)

मद्रास

भारत-जर्मन सांस्कृतिक केन्द्र

मद्रास में बीस अगस्त को मैक्समूलर भवन नाम से एक भारत-जर्मन सांस्कृतिक केन्द्र की स्थापना की गई। यह इस प्रकार का तीसरा केन्द्र है। (हि० 23.8)

राजस्थान

बुखारेस्ट में अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह

भारतीय लोक कलामण्डल (उदयपुर) के संचालक श्री देवीलाल साभर द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली समारोह में भाग लेने के लिए बुखारेस्ट (रूमानियां) जा रहे हैं। यह समारोह 15 सितम्बर से 30 सितम्बर तक चलेगा।

श्री साभर उक्त समारोह में भारतीय प्रतिनिधि के रूप में भाग लेंगे। चैक और रूमानिया सरकारों ने भी श्री साभर को आमंत्रित किया है। वे वहां भारतीय एवं विशेषत: राजस्थानी कठपुतली कला का प्रदर्शन करेंगे। (न० भा० 26.8)

विदेशों में कालिदास सम्बन्धी प्रदर्शनी

उज्जैन से एक सरकारी विज्ञप्ति में कहा गया है कि केन्द्रीय सरकार का परराष्ट्र मंत्रालय कालिदास समारोह के अवसर पर विदेशों में कालिदास सम्बन्धी प्रदर्शनी का भव्य आयोजन करने पर गम्भीरता से विचार कर रहा है। (न० भा० 23.9)

सांस्कृतिक यात्राएं

बिहार

जापान के पुजारी—श्री नकायामा भारत में

भारत-जापान सांस्कृतिक संघ की बिहार शाखा ने 14 अक्टूबर को टोक्यो के हुजेंजी मन्दिर के प्रधान पुजारी श्री रिरी नकायामा के सम्मान में स्वागत समारोह का आयोजन किया।

श्री नकायामा को भारत सरकार ने अमंत्रित किया है। भारत में वह दो मास रहकर बौद्ध साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। (न० भा० 15.10)

पंजाब

कुरुक्षेत्र में भारत-विद्या संस्था

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय ने एक भारत-विद्या संस्था स्थापित करने का निश्चय किया है : विश्व-विद्यालय के उपकुलपति के अनुसार यह अगली जुलाई में काम करना शुरू कर देगी। इसमें संस्कृत, प्राचीन भारतीय इतिहास, भाषाओं और दर्शन का अध्यापन किया जायेगा। (इं० ए० 1.10)

बिहार

सांस्कृतिक शिक्षा मण्डल

राज्य की सांस्कृतिक संस्थाओं के कार्य-कलापों में समन्वय करने के लिए बिहार सरकार ने एक सांस्कृतिक शिक्षा मण्डल बनाया है। शिक्षा मंत्री श्री गंगानन्द सिंह मण्डल के सभापति हैं। (हि० टा० 8.9)

वैशाली की जैन-विद्या संस्था

वैशाली (मुजफ़्फरपुर) की उक्त संस्था की महापरिषद् की घोषणा कर दी गई है : बिहार के राज्यपाल इसके प्रधान हैं इसमें पैंतीस सदस्य हैं। संस्था के संचालक डा० हीरालाल जैन इसके सदस्य-सचिव हैं। बिहार के चारों विश्वविद्यालयों के उपकुलपति भी इसके सदस्य हैं।

संस्था का उद्घाटन राष्ट्रपति ने अप्रैल, 1956 में किया था, किन्तु कुछ कठिनाइयों के कारण अब तक काम न हो सका था। संस्था को बिहार विश्वविद्यालय से मान्यता प्राप्त है। (स० 2.9)

बोधगया मन्दिर का विकास

मन्दिर की सलाहकार समिति की बैठक में मन्दिर के विकास की लगभग बारह लाख रुपयों की एक योजना का सुझाव दिया गया है। मन्दिर के साथ एक संग्रहालय, एक पुस्तकालय, एक भजन-उद्यान और एक पहाड़ी उद्यान स्थापित किए जाने का विचार है। बोधि वृक्ष के चारों ओर पत्थर की रेलिंग भी पूरी की जाएगी।

सदस्यों ने यह भी सुझाव मंजूर किया कि अगली सर्दी में एक अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध प्रदर्शनी आयोजित की जाए, जिसमें दुनियां के सभी बौद्ध देशों से भाग लेने को कहा जाए। (अ० बा० पं० 21.9)

जोर्डन

जोर्डन में भारतीय सांस्कृतिक संस्थाएं

अम्मान में स्थित भारतीय राजदूत कर्नल शुक्ल ने 4 अगस्त को बताया कि अम्मान में भारतीय वस्तुओं की प्रदर्शनी आयोजित करने के अतिरिक्त भारत सरकार ने यहां सांस्कृतिक एवं वाणिज्य संस्थाएं भी स्थापित करने का निर्णय किया है। (न० भा० 9.8)

compiled and created by Bhartesh Mishra

सांस्कृतिक समारोह

उत्तर प्रदेश

शास्त्रीय संगीत में परिवर्तन पर बल

संगीत परिषद् के 15वें वार्षिकोत्सव पर सभापति पद से भाषण करते हुए उत्तर प्रदेश के राज्यपाल डा० वी० रामकृष्णराव ने वाराणसी में कहा कि संगीतज्ञ में जब तक संगीत और साहित्य का पूर्ण मिलाप नहीं होता, तब तक वह श्रोताओं पर प्रभाव नहीं डालता। हमारे अन्य शास्त्रों की तरह संगीत शास्त्र का उद्गम भी वेद है और सामवेद तो पूरा संगीत शास्त्र ही है। यहां आदिकाल से साहित्य और संगीत की धारा साथ-साथ प्रवाहित हुई है।

अन्त में राज्यपाल ने शास्त्रीय संगीत में परिवर्तन की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा कि आज के शास्त्रीय संगीत में कुछ ऐसे परिवर्तनों की आवश्यकता है जिससे वह लोकप्रिय हो। (न० भा० 13.10)

दिल्ली

कविवर पन्त का सम्मान

हिन्दी प्रकृति काव्य के अग्रदूत श्री सुमित्रानन्दन पंत को राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने 'रूपाम्बरा' नामक प्रकृति काव्य संकलन अपने करकमलों द्वारा समर्पित किया। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'रूपाम्बरा' के साढ़े चार सौ पृष्ठों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से अब तक के हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण के प्रतिनिधि कवियों की रचनायें हैं।

कविवर पन्त ने अपने सम्मान के लिये कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपने भाषण में कहा कि प्रकृति में मुझे संस्कृति के दर्शन होते हैं। (न० भा० 19.9)

'भारती संगम' का उद्घाटन

तीन दिसम्बर को राष्ट्रपति-भवन के अशोक कक्ष में भारतीय साहित्यकारों की नवोदित संस्था भारती संगम का उद्घाटन करते हुए राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि ऐसी संस्था से निजी संबंध जोड़ना मुझे मंजूर ही नहीं, बल्कि मेरे लिए सुखद है। उन्होंने देश के भावात्मक समन्वय के लिए सुविचारित और योजनाबद्ध कार्यक्रम की आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा कि भारतीय भाषाओं के साहित्य को एक दूसरे के निकट लाकर हम ऐसा कर सकते हैं। इसके पहले अपने स्वागत भाषण में संस्था के एक संयोजक (दूसरे संयोजक श्री बी० गोपाल रेड्डी हैं) डा० गोविन्ददास ने कहा कि भारती संगम साहित्य की पवित्रता और प्रतिष्ठा के साथ-साथ उसकी अखिल भारतीयता का भी पक्षपाती है। श्री रेड्डी ने अपने भाषण में संगम के उद्देश्यों पर प्रकाश डाला। अन्त में योजना आयोग के सदस्य श्री श्रीमन्नारायण ने राष्ट्रपति और उपस्थित सज्जनों को धन्यवाद दिया।

अगले दिन संगम के तत्वावधान में भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता पर एक विचार-गोष्ठी और सर्वभाषा कवि सम्मेलन का अयोजन किया गया। दोनों कार्यक्रम बड़े ही सफल रहे।

पुस्तकालय सम्मेलन

दिल्ली पुस्तकालय संघ की ओर से यूनेस्को के प्रतिनिधियों के सम्मान में 11 अक्तूबर को कांस्टीट्यूशन क्लब में एक समारोह का आयोजन किया गया। इसकी अध्यक्षता पुस्तकालय विज्ञान के आचार्य श्री रंगनाथन ने की।

समारोह में पाकिस्तान, ईरान, अफ़गानिस्तान, बर्मा, लंका, थाइलैण्ड और इन्दोनेशिया के पुस्तकालय-प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। इस अवसर पर पुस्तकालय आन्दोलन से सम्बन्धित अनेक विद्वान् भी उपस्थित थे। (न० भा० 11.10)

पंजाब

पंजाबी लेखक सम्मेलन

अमृतसर में चौथे अ० भा० पंजाबी लेखक-सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए केन्द्रीय वैज्ञानिक अनुसंधान और सांस्कृतिक कार्य मंत्री प्रो० हुमायून् क़बिर ने कहा कि भाषा का स्वतः धर्म और राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। बल्कि ये दोनों चीजें भाषा को हानि ही पहुंचाती हैं। लिपि के ऊपर भी कोई झगड़ा नहीं करना चाहिए। भारत में तो खासतौर पर लिपियां हमेशा परिवर्तित होती रही हैं। (दि०.12.9)

मध्य प्रदेश

ग्वालियर में भारतेन्दु जयन्ती

मध्य भारतीय हिन्दी साहित्य सभा द्वारा संचालित महाविद्यालय में भारतेन्दु जयन्ती मनाई गई। इस अवसर पर छात्रों की कविताएं, संगीत तथा एकांकी नाटक आदि का प्रदर्शन किया गया और साहित्यकारों के भाषण भी हुए। (न० भा० 2.9)

ग्वालियर में भातखण्डे जन्म शताब्दी समारोह

भारतीय संगीत के युग प्रवर्तक श्री विष्णु नारायण भातखण्डे का जन्म शताब्दी समारोह केन्द्रीय मंत्री डा० केसकर की अध्यक्षता में ग्वालियर में मनाया गया। डा० केसकर ने कहा कि श्री भातखण्डे ने भारतीय संगीत के लिए जीवन भर श्रम किया। उन्होंने देश भर में यात्रा कर संगीत शास्त्र पर खोज की और पुस्तकों की रचना की। उन्होंने संगीत को एकत्र किया, उसे जनता में फैलाया। डा० केसकर ने बताया कि मानव-जीवन की पूर्णता के लिए संस्कृति की शिक्षा के साथ-साथ संगीत की शिक्षा भी आवश्यक है। संगीत ईश्वर की साधना का साधन है। (न० भा० 14.10)

सोवियत रूस

प्राच्य विद्या सम्मेलन

मास्को में हुआ पचीसवां अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन सत्ताइस अगस्त को समाप्त हो गया। सम्मेलन में पच्चीस भारतीयों के एक दल ने भाग लिया। अगला सम्मेलन १९६४ में नई दिल्ली में होगा। (हि० टा० 22.8)

compiled and created by Bhartesh Mishra

1961 में महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म-शताब्द समारोह मनाया जा रहा है। इस प्रसंग में विभिन्न (केंद्र, राज्य और विदेश) सरकारें और ग़ैरसरकारी संस्थायें व्यापक कार्यक्रम तैयार कर रही हैं। संस्कृति के पाठकों को इन कार्यक्रमों की एक संक्षिप्त झांकी देने के लिए हम इस अंक से यह अलग स्तंभ शुरू कर रहे हैं। इस स्तंभ में कार्यक्रमों और समाचारों के अतिरिक्त कुछ अन्य रोचक सामग्री भी दी जायेगी। आशा है, हमारे पाठक इस स्तम्भ का स्वागत करेंगे।

—सम्पादक

: एक :

कार्यक्रम

प्रमुख कार्यक्रम

रवीन्द्रनाथ टैगोर शताब्द समारोह के आयोजन के लिये गत-वर्ष एक समिति बनाई गई थी। प्रधानमंत्री इस समिति के सभापति हैं, प्रो० हुमायून् कबिर सचिव और श्री बी० गोपाल रेड्डी कोषाध्यक्ष। डा० राधाकृष्णन्, डा० विधानचन्द्र राय, श्री चि० द्वा० देशमुख, श्रीमती इन्दिरा गांधी, श्री जे० आर० डी० टाटा, श्री जी० डी० बिड़ला, श्री टी० एस० राजम्, श्री कस्तूरभाई लालभाई और श्री एस० आर० दास इस समिति के सदस्य हैं। समिति का मुख्य काम स्थायी स्मारक स्थापित करना है और समारोह आदि का काम राज्य-सरकारों और स्थानीय संस्थाओं को सौंप दिया जायेगा।

समारोह मई से शुरू होंगे और 1961 की सर्दियों तक चलेंगे। प्रमुख कार्यक्रम हैं: सात मई को नई दिल्ली में रवीन्द्र भवन का उदघाटन, आठ मई को दिल्ली के पैंतीस बंगाली क्लबों द्वारा 'मुक्तधारा' का प्रस्तुत किया जाना और उसी दिन कलकत्ते (जोरासको) में टैगोर संग्रहालय का उद्घाटन। राज्यों में टैगोर रंगशालाओं का उद्घाटन और ऐसे ही सांस्कृतिक समारोह आयोजित किये जायेंगे। दिल्ली में नवम्बर में एक अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य सम्मेलन भी बुलाया जायेगा। तभी एक टैगोर सप्ताह भी मनाया जायेगा।

प्रचार के प्रयोजन से अंग्रेजी, हिन्दी और बंगला में हजारों पोस्टर छपवाये जा रहे हैं। चन्दा इकट्ठा करने के लिये प्रायः पन्द्रह लाख रुपयों के मूल्य के दस, पांच और एक रुपये के कूपन छपवाये गये हैं।

केन्द्रीय समिति ने अक्तूबर 60 तक प्रायः तेरह लाख रुपये चन्दे के रूप में प्राप्त किये हैं। इसके अलावा विभिन्न बड़े उद्योगपतियों ने कुल मिलाकर लगभग पन्द्रह लाख रुपये देने का वचन दिया है।

अकादेमियां

ललित कला अकादेमी रवीन्द्रनाथ के चालीस चुने हुए चित्रों के पुनरुद्धरणों का एक एलबम निकालेगी, इसमें सोलह चित्र बहुरंगे होंगे। वह 'टैगोर: देश और विदेश में' नाम से एक प्रदर्शनी भी भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद् के सहयोग से आयोजित करेगी।

साहित्य अकादेमी ने टैगोर की एकोत्तरशती (एक सौ एक कविताओं का संग्रह) और इक्कीस कहानियों का संग्रह भारतीय भाषाओं में निकालने का बीड़ा लिया है। कुछ संस्करण निकल चुके हैं, कुछ पर काम चल रहा है। पांच सौ मूल बंगला गीतों का देवनागरी संस्करण भी प्रकाशित किया गया है। वह चुनी हुई रचनाओं के मनीपुरी, नेपाली और तिब्बती भाषाओं में अनुवाद भी निकालेगी। बच्चों के लिये विशेष रूप से चुनी हुई रचनाओं का प्रायः दो सौ पृष्ठों का एक संग्रह तैयार किया जायेगा, और देश की सभी प्रमुख भाषाओं में छापा जायेगा। एक टैगोर शताब्द स्मृति-ग्रंथ भी प्रमुख भाषाओं में निकाला जायेगा। अंग्रेजी और उर्दू संस्करणों पर कुछ काम हो चुका है।

संगीत नाटक अकादेमी ने सौ गीतों को हिन्दुस्तानी की स्वर-लिपि के अनुकूल तैयार करने का काम हाथ में लिया है। वह सात मई को एक नृत्य नाटक भी प्रस्तुत करेगी। वह अपनी पत्रिका का एक टैगोर विशेषांक भी निकालेगी।

विश्वविद्यालय

बड़ौदा, कलकत्ता, मद्रास और पंजाब विश्वविद्यालयों को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग टैगोर-पीठ स्थापित करने के लिये

compiled and created by Bhartesh Mishra

एक-एक लाख रुपयों का अनुदान देगा। इतना ही रुपया ये विश्व-विद्यालय भी लगायेंगे। स्थानीय और विदेशी विद्वान् टैगोर विषयक व्याख्यान देंगे। सागर और पटना विश्वविद्यालय भी इस शर्त पर तैयार हो गये हैं कि उनके हिस्से का रुपया सम्बन्धित राज्य सरकारें दे दें। दिल्ली, पूना और राजस्थान विश्वविद्यालय भी विशेष व्याख्यान आयोजित करेंगे।

भारत सरकार

सूचना और प्रसारण मंत्रालय आकाशवाणी इस प्रसंग में कई रूपक कार्यक्रम आयोजित करने जा रही है। चुने हुये नाटकों आदि के भी प्रसारण-रूप तैयार किये जा रहे हैं। एकोत्तरशत गीतों के रिकार्ड (विभिन्न प्रसिद्ध कलाकारों द्वारा) भी तैयार किये जा रहे हैं। सत्यजित रे द्वारा टैगोर पर एक फिल्म तैयार की जा रही है। इसे अंग्रेजी, फ्रेंच और रूसी भाषाओं की ध्वनियां दी जा रही हैं। भारत की सभी प्रमुख भाषाओं की ध्वनियां भी दी जायेंगी।

वैदेशिक कार्य मंत्रालय ने विदेशस्थ दूतावासों से स्थानीय समारोह समितियां बनाने को कहा है? एक चलती-फिरती प्रदर्शनी भी विदेशों को भेजी जायेगी।

शिक्षा मंत्रालय ने रवीन्द्र सदन की कुछ हस्तलिपियों की मरम्मत की है। पत्रों, समाचार कर्तनों और टैगोर परिवार के पुराने अभिलेखों की माइक्रो-फिल्म भी बनवाई जायेगी।

परिवहन और संचार मंत्रालय दो विशेष डाक-टिकट निकालेगा।

रेल मंत्रालय रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जिस डिब्बे में 25.7.1941 को अंतिम यात्रा की थी उसे सुरक्षित रखेगा और उसका एक मॉडल शान्तिनिकेतन के संग्रहालय के लिये देगा।

वें० अ० और सा० कार्य मंत्रालय द्वारा दिये गये अनुदान से राज्यों की राजधानियों में तैयार की जाने वाली अधिकांश रंग-शालायें मई, 1961 तक तैयार हो जायेंगी। दिल्ली में एक विशाल खुली रंगशाला बनाई जायेगी। रवीन्द्र भवन (अकादेमियों का मुख्यालय) समय से पहले बन जायेगा। रंगशालाओं को वित्तीय सहायता देने की योजना को अंतिम रूप दे दिया गया है, जिसके अधीन टैगोर का एक नाटक अभिनीत करने पर साढ़े सात हजार रुपये दिये जायेंगे।

राज्यों के कार्यक्रम

आन्ध्र प्रदेश विभिन्न सांस्कृतिक समारोहों के अतिरिक्त राज्य के तीनों विश्वविद्यालयों में टैगोर-पीठ या स्मारक व्याख्यान मालायें आयोजित करेगा।

आसाम मीजो, खासी और गारो भाषाओं में अनुवाद के लिये एक जीवनी और कुछ चुनी हुई कविताओं-कहानियों के संग्रह संकलित करेगा।

बिहार टैगोर के दर्शन पर एक संगोष्ठी, संगीत और नाटकों के कार्यक्रम, राज्य-पुस्तकालयों में टैगोर-खंड आयोजित करेगा और बच्चों के लिये विशेष टैगोर-साहित्य सम्पादित करायेगा।

जम्मू और काश्मीर सांस्कृतिक समारोह, निबन्ध प्रतियोगिताओं के अतिरिक्त काश्मीरी और डोगरी में चुनी हुई रचनाओं के संग्रह निकालेगा।

केरल 'चित्रा' (नृत्य-नाटक) का कथाकली शैली में प्रदर्शन, टैगोर के जीवन और कृतियों पर एक ग्रंथ का प्रकाशन, 'आधुनिक मलयालम साहित्य पर टैगोर का प्रभाव' विषय पर एक निबन्ध प्रतियोगिता और केरल विश्वविद्यालय में एक टैगोर पीठ आयोजित करेगा।

मद्रास शान्तिनिकेतन के समकक्ष एक गुरुदेव ग्राम बनवायेगा। एक नृत्य-नाटक कलाक्षेत्र द्वारा प्रस्तुत करायेगा और रवीन्द्र संगीत में एक संक्षिप्त पाठ्यक्रम आयोजित करेगा।

महाराष्ट्र एक जीवनी और कुछ नाटकों के मराठी संस्करण निकालेगा। टैगोर के चित्रों और पांडुलिपियों की एक प्रदर्शनी, एक अन्तः कालेज नाटक प्रतियोगिता और एक गोष्ठी आयोजित करेगा।

मैसूर नृत्य-नाटक-संगीत समारोह के अलावा चित्रों-पांडुलिपियों की एक चल-प्रदर्शनी और मैसूर और कर्नाटक विश्वविद्यालय में स्मारक व्याख्यान माला आयोजित करेगा।

उड़ीसा 'उड़ीसा में टैगोर' नामक ग्रंथ निकालेगा। पांडुआ में टैगोर की पुरानी जायदाद के स्थान पर एक स्मारक बनायेगा।

राजस्थान नाटकों और अन्य कृतियों के राजस्थानी में अनुवाद निकालेगा। विश्वविद्यालय में टैगोर-पीठ स्थापित करेगा। हर जिले में खुली रंगशालायें बनायेगा।

उत्तर प्रदेश टैगोर के नाटकों के अभिनय के अलावा उनके चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित करेगा। जिन-जिन घरों में महाकवि ठहरे थे, पट्टियां लगाई जायेंगी। उनके नाम पर एक बाल रंगशाला और पुस्तकालय बनाया जायेगा। चुनी रचनाओं का हिन्दी संग्रह तैयार करेगा। प्रमुख विश्वविद्यालय में टैगोर व्याख्यान मालायें आयोजित की जायेंगी।

प० बंगाल जोरासंको में महाकवि के भवन को लेकर वहां संग्रहालय स्थापित करेगा। वहां रवीन्द्र भारती नामक विश्वविद्यालय स्थापित किया जायेगा। रवीन्द्र रचनावली नामक एक सस्ता संग्रह निकाला जायेगा। तीनों विश्वविद्यालयों में अनुसंधान अधिछात्रवृत्तियां स्थापित की जायेंगी। बच्चों के लिये एक जीवनी निकाली जायेगी। टैगोर चित्रों पर एक वृत्तचित्र बनाया जायेगा।

हिमाचल प्रदेश, मनीपुर और त्रिपुरा प्रशासनों ने भी इसी प्रकार के कार्यक्रम तैयार किये हैं। शेष राज्यों में भी समारोह-समितियां बन गई हैं और कार्यक्रम तैयार किये जा रहे हैं।

सिक्किम और भूटान ने भी विस्तृत कार्यक्रम तैयार किये हैं।

विदेश

अर्जेंटीना, ब्राजील, बर्मा, कनाडा, श्रीलंका, चैकोस्लोवाकिया, आयरलैंड, फ्रांस, जर्मनी, हंगरी, ईरान, इटली, जापान, मारीशस नैरोबी, नार्वे, रबात, रूमानियां, सऊदी अरब, सूडान, स्विटजरलैंड, थाईलैंड, यूनाइटेड अरब रिपब्लिक, ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ, वियतनाम और यूगोस्लाविया में विशद कार्यक्रम

compiled and created by Bhartesh Mishra

तैयार किये गये हैं। अनेक देशों में टैगोर की चुनी हुई रचनाओं के स्थानीय भाषाओं में अनुवाद निकाले जायेंगे। उनके नाटक अभिनीत किये जायेंगे। प्रदर्शनियां, नृत्य-समारोह, साहित्यिक चर्चायें, फिल्म-प्रदर्शन, व्याख्यान-मालायें आदि आयोजित की जायेंगी।

यूनेस्को

भारतीय साहित्य अकादेमी को अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य सम्मेलन आयोजित करने में सहायता दे रहा है। विशिष्ट विदेशी साहित्यकारों के यात्रा-व्यय के लिये दस हजार डालर खर्च करने के लिये राजी हो गया है। सोलह नवम्बर को पेरिस में एक सम्मेलन आयोजित करेगा, जिसमें डा० राधाकृष्णन् भाषण देंगे। कविता-पाठ (फ्रेंच अनुवाद) होगा। एक टैगोर प्रदर्शनी भी आयोजित की जायेगी। सर्वश्रेष्ठ रचनाओं का अमिय चक्रवर्ती द्वारा किया गया संग्रह प्रकाशित करेगा। कविताओं का अंग्रेजी संस्करण, 'गोरा' का फ्रेंच संस्करण, बचपन के संस्मरण और कुछ अंतिम कवितायें प्रकाशित करेगा। 'यूनेस्को कोरियर' पत्रिका का विशेषांक निकाला जायेगा।

: दो :

कृति

(एक)

यात्रा का अंत

मित्रो ! विदाई के इस अवसर पर मेरे लिए मंगल-कामना करो !
आकाश पर प्रभात की अरुणाई छाई है और मेरा मार्ग बहुत ही रमणीक है।
यह न पूछो कि मेरे पास साथ ले जाने को कौन-सा पाथेय है।
खाली हाथ किन्तु आशाभरे हृदय से मैंने यात्रा प्रारम्भ की है।
अपने विवाह का मंगल परिधान पहिन कर मैं चलूंगा, यात्रा की मामूली लाल खाकी वर्दी नहीं। मार्ग में संकट हैं, फिर भी मैं निर्भर हूं।
यात्रा के अंत में संध्या का तारा मेरा स्वागत करेगा और राजद्वार पर शाम की शहनाई मेरा अभिनन्दन करेगी !

(दो)

मंगल-मार्ग

(हे मोर दुर्भागा देश)

हे मेरे अभागे देश ! तूने जिस जन-समुदाय का जैसा अपमान किया था, उसका वैसा ही बदला मिला है तुझे ! जिनके मानवीय अधिकारों की अवज्ञा की थी, जिन्हें अपने साथ बैठने का मान नहीं दिया था, उनके अपमान का प्रतिकार मिल गया तुझे '
मनुष्य को स्पर्श के योग्य न समझ तूने मनुष्य में स्थित देवता का अपमान किया है। विधाता के क्षेम-भरे दुष्काल-द्वार पर बैठ तुझे सबके साथ अन्न-पानी का समभागी होना पड़ेगा। यही तेरी 'अवज्ञा का दण्ड होगा !
अपने ऊंचे आसमान से तूने उन्हें नीचे धकेल दिया—उनकी शक्ति का अनुमान नहीं लगाया। अब तू नीचे उतर, अन्यथा तेरे परित्राण की आशा नहीं।
जिन्हें तूने नीचे उतारा है वे तुझे भी नीचे ही बांधे हुये हैं, जिन्हें तूने पीछे धकेल दिया है वे अब तुझे पीछे खींच रहे हैं।
इसलिए अपना उत्कर्ष चाहता है तो पहले उनका उत्कर्ष कर, वही तेरी अवज्ञा का प्रतिशोध है।
अज्ञानान्धकार के परदे में जिन्हें तूने डाल दिया है उन्होंने भी तेरे मंगल-मार्ग में प्रगाढ़ आवरण डाल दिये हैं।
सैकड़ों सदियों से तेरे कन्धों पर अपमान का भार पड़ा है, तब भी तूने जनता-जनार्दन को नमस्कार नहीं किया।
दीन-हीनों का भगवान् पृथ्वी पर उतरा है। वह हमारे नेत्रों में आसीन है, तभी तुझे दिखता नहीं क्या ? तेरा जातीय अहंकार अभिशप्त हो चुका है। तू सबसे पिछड़ गया। और अपनी रक्षा के लिए झूठे अभिमान की रेखाएं खींच रहा है।

(गीतांजलि : सत्यकाम विद्यालंकार के अनुवाद से साभार)

जयन्ति ते सुकविनः
रससिद्धाः कवीश्वराः
नास्ति येषां यशः काये
जरामरणजं भयम्

—स्फुट

compiled and created by Bhartesh Mishra

समीक्षा

धर्म और समाज : मूल लेखक—सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन्; अनुवादक—विराज एम० ए०, प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स; दिल्ली ।

'धर्म और समाज' भारत गणराज्य के उपराष्ट्रपति सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन् की नवीनतम पुस्तक है । यह उनकी 'रिलीजन एण्ड सोसाइटी' नामक विख्यात अंग्रेजी कृति का अविकल हिन्दी अनुवाद है । इसमें उनके 'धर्म की आवश्यकता', 'धर्म की प्रेरणा और नई विश्व-व्यवस्था', 'हिन्दू धर्म', 'हिन्दू समाज में नारी', 'युद्ध और अहिंसा' तथा 'उत्तर लेख' शीर्षक भाषणों और लेखों का संकलन प्रस्तुत किया गया है । यह पुस्तक मूलतः लेखक द्वारा 1942 की सर्दियों में कलकत्ता बनारस विश्वविद्यालयों में दिये गए भाषणों की सामग्री पर आधारित है । बाद में लेखक ने स्व-तन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त भारतीय राजनीति में घटित घटनाओं के विषय में भी एक 'उत्तर लेख' जोड़ दिया है, जिससे पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ गई है ।

इस पुस्तक के लेखक विश्व-ख्याति के दार्शनिक और उच्चकोटि के विचारक हैं । उनके विचार देश तथा विदेश के बौद्धिक जगत् में अत्यन्त आदर और कौतूहल के साथ पढ़े और सुने जाते हैं । परिणामस्वरूप इस ग्रंथ में विश्व की ऐतिहासिक घटनाओं की पृष्ठभूमि में उन्होंने भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के मत के साथ उनकी निजी मान्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन के रूप में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं । एक सार्वकालिक सत्य के रूप में प्रौढ़ मस्तिष्क से निःसृत उनके ये विचार विशेषतः "आज के युद्धाकुल संसार के लिए आशंकाओं और अनाचारों के विरुद्ध आशाओं और विश्वासों के संकेत हैं ।

इस पुस्तक के पहले निबन्ध 'धर्म की आवश्यकता' में विद्वान् लेखक ने वर्तमान संकट, सामाजिक व्याधि, युद्ध और नई व्यवस्था, धर्म-निरपेक्षता, हमारे युग की मुख्य दुर्बलता, द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद और आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन की आवश्यकता आदि विभिन्न सामयिक और उपयोगी समस्याओं पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला है । दूसरे निबन्ध 'धर्म की प्रेरणा और नई विश्व-व्यवस्था' में धर्म के प्रति विरोध, धर्म द्वारा मैत्री, व्यक्ति की प्रकृति (स्वभाव) चिन्तन बनाम कर्म, नई व्यवस्था, प्रजातन्त्र की गत्वरता (गति-शीलता) आदि जीवन तथा आध्यात्मिक क्षेत्र के विभिन्न उपयोगी पक्षों पर रोचक तथा प्रभावशाली शैली में प्रकाश डाला है ।

इस पुस्तक का तीसरा लेख 'हिन्दू धर्म' अत्यन्त ही महत्वपूर्ण और पठनीय सामग्री से परिपूर्ण है । इसमें लेखक ने हिन्दू सभ्यता की आधारभूत परिभाषा देकर उसकी आध्यात्मिक मान्यताओं पर विशद रूप से प्रकाश डाला है । फिर धर्म की धारणा और धर्म के स्रोत का दिग्दर्शन कराकर उसके परिवर्तन के सिद्धांत निर्देशित किये हैं । यही नहीं, इस निबन्ध के अन्त में लेखक ने हमारी धार्मिक समस्याओं, जातियों और उसमें प्रचलित अस्पृश्यता और संस्कारों के सम्बन्ध में भी बड़ी गहराई से विचार किया है ।

'हिन्दू समाज में नारी' इस ग्रंथ का चौथा लेख है । इसके प्रारम्भ में नर और नारी के मौलिक सम्बन्धों पर विचार करके प्राचीन भारत में नारी के महत्त्व की प्रतिष्ठा लेखक ने की है । यही नहीं, मानव-जीवन में प्रेम का स्थान बतला कर लेखक ने उसके भौतिक आधार, जातीय तत्त्व, प्रेम, विवाह, विवाह और प्रेम आदि विभिन्न रूपों की सर्वांगीण विवेचना की है । इस निबन्ध का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश वह है जिसमें डा० राधाकृष्णन् ने हिन्दू संस्कारों का विवेचन करके विवाहों के प्रचार, बाल-विवाह, संगियों का चुनाव, बहु-पत्नीत्व आदि सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं पर उपयोगी तथा ज्ञानवर्द्धक सामग्री प्रस्तुत की है । इस निबन्ध का परिवार उन्होंने हमारे समाज में विधवाओं की स्थिति तलाक, समाज-सुधार, सन्तति-निरोध आदि का विश्लेषण करके किया है । अन्त में लेखक ने इस बात का भी समाधान प्रस्तुत किया है कि उक्त विफलताओं के प्रति समाज का क्या रुख है ?

युद्ध की विभीषिकाओं से आक्रान्त हमारे समाज के लिए भी लेखक ने अपनी इस पुस्तक के 'युद्ध और अहिंसा' शीर्षक अध्याय में जो संजीवन मन्त्र प्रदान किया है, वह हमारे देश की संस्कृति का मूल आधार है । लेखक ने युद्ध का एक उत्कृष्ट वस्तु के रूप में वर्णन करके उसके सम्बन्ध में हिन्दी तथा ईसाई धर्मों के दृष्टिकोण को बड़ी ही तटस्थता और निर्भीकता के साथ प्रस्तुत किया है । इन दोनों धर्मों के दृष्टिकोणों के परिप्रेक्ष्य में युद्ध की भ्रांतियों आदर्श समाज और जीवन-मूल्यों के सम्बन्ध में गांधी जी की अमूल्य शिक्षाओं को समाहित करके भी लेखक ने अपनी जागरूकता का परिचय दिया है । इस निबन्ध के अन्त में युद्ध और अहिंसा की मीमांसा करते हुए विद्वान लेखक ने इस बात पर अधिक जोर दिया है कि मानव-जीवन के उत्थान में अहिंसा और निःस्वार्थता का बहुत अधिक महत्त्व है और यही स्थिति मानवता का चरम लक्ष्य है । इसी स्थिति में प्रेम और कानून एक हो जाते हैं ।

compiled and created by Bhartesh Mishra

पुस्तक का अन्तिम अध्याय 'उत्तर लेख' है। लेखक ने स्वतन्त्रता के पश्चात् 15 अगस्त, 1947 को भारतीय आकाशवाणी से समस्त देश के नाम जो सन्देश दिया था, उसी का समावेश इसमें है। सारांशतः, यह ग्रन्थ भारत की आध्यात्मिक संस्कृति और विश्व-जनीन समस्याओं के अद्भुत समन्वय का एक आकर-ग्रन्थ है। हमारे साहित्य में इस ग्रन्थ के प्रकाशन से अभूतपूर्व अभिवृद्धि हुई है।

—क्षेमचन्द्र 'सुमन'

ललित कला की धारा : लेखक—असित कुमार हालदार; प्रकाशक—चन्द्रलोक प्रकाशन इलाहाबाद-देहली; मूल्य साढ़े सात रुपये।

श्री असित कुमार हालदार की एक अन्य पुस्तक 'भारतीय चित्रकला का इतिहास' की समीक्षा 'संस्कृति' के विगत अंक में दी जा चुकी है। श्री हालदार भारतीय चित्रकला के इतिहास में अपने लिये एक स्थान बना चुके हैं। न केवल देश और विदेश की कला-वीथियों में उनके चित्र अपना निश्चित स्थान प्राप्त कर चुके हैं, अपितु उन्हें और भी अनेक प्रकार के सम्मान प्राप्त हुए हैं। वह लन्दन की रायल कला सोसायटी के फैलो (अधिसदस्य) हैं। जोगीमारा और बाघ के पुराने चित्रों को अत्यन्त निकट से देखने-परखने और आंकने का अवसर उनको मिला और उनकी अपनी मौलिक कृतियां इससे बहुत अनुप्राणित रहीं। साथ ही उन्होंने अपनी कृतियों में विदेशी कला की विशेषताओं को भी आत्मसात् किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ (पृष्ठ संख्या एक सौ आठ) में उन्होंने कला-प्रेमियों तथा विद्यार्थियों के सम्मुख कला में परम्परा-प्राप्त वैभव के वास्तविक माहात्म्य को बतलाने का प्रयत्न किया है। चित्रकार और चित्र-कला के पारखी और इतिहासज्ञ होने के साथ-साथ वह एक प्रसिद्ध कलाचार्य भी हैं। उनका विश्वास है कि भारतीय कला की उचित शिक्षा तमाम देश की मूल्यवान् कला को गति प्रदान करेगी। कला की शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने जो विचार व्यक्त किया है, उसे सर्वत्र समर्थन और सराहना प्राप्त होगी : "कला-आचार्यों को इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये कि वे विद्यार्थियों पर अपना व्यक्तित्व आरोपित करने का प्रयत्न न करें...कला के सिद्धांत समझाने के साथ ही साथ विद्यार्थियों के लिये ऐसे उपयुक्त और सांस्कृतिक वातावरण की रचना करनी चाहिये, जहां रहकर उनकी अन्तर्निहित योग्यता का विकास हो सके....वे शिक्षक से प्रेरणा प्राप्त कर उनकी पद्धति का अनुकरण न करें और इस प्रकार अपनी व्यक्तिगत शैली का निर्माण कर कला के क्षेत्र में सफलता प्राप्त करें.....विद्यार्थी का ज्ञानदीप उसी समय आलोकित हो उठता है, जब उसकी अपनी कृतियों में गुरु से आगे बढ़कर उसके अपने व्यक्तित्व की छाप लगती है।"

लेखक परंपरा का समर्थक है, परन्तु वह नहीं मानता कि परंपरा के नाम पर कोई विचारवान् कलाकार बच्चों के खींचे आकार या गुहामानव की टेढ़ी-सीधी रेखाओं का अनुकरण करेगा। परन्तु उसके विचार से जिस कलाकार का परंपरा में विश्वास है, वह अवश्य ही प्राचीन वैभव के तत्त्व से अपनी सौंदर्यमयी भावनाओं को सजाकर इस प्रकार के अवलम्ब से और आगे बढ़ने के मार्ग ढूंढ़ निकालेगा। इससे उसकी अपनी चेष्टाओं में चार चांद लग जावेंगे और तब वह अपनी कृतियों में विपरीत आकृति की विशिष्टता अथवा अपने विपुल ज्ञान की आत्मा फूंक सकेगा। एक अन्य स्थल पर लेखक फिर कहता है कि जिस देश की अपनी गौरवमयी परंपरायें हैं, वह कहीं भटक जाये, यह संभव नहीं।

लेखक के विचार से कला में विभिन्नता और अनुरूपता दोनों आवश्यक हैं। आगे वह कहते हैं किसी चित्रकार को हम रचना की विशालता या कौशल के भेद से नहीं जान सकते। कौशल बाह्य स्रोतों से सीखा जा सकता है, परन्तु कल्पना शक्ति केवल उसकी बुद्धि उसकी उच्च शिष्टता और प्रयोग द्वारा ही बढ़ सकती है।

इस प्रकार यह पुस्तक लेखक के कला सम्बन्धी दृष्टिकोण को अत्यन्त विशद रूप में प्रस्तुत करती है। रवीन्द्र नाथ ठाकुर, अवनीन्द्र नाथ ठाकुर और गगनेन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में बंगाल में जो जाग्रति आन्दोलन चला, उसके बारे में भी लेखक ने एक अलग अध्याय दिया है। इस अध्याय में उन विशिष्ट प्रवृत्तियों की रूपरेखा दी गई है, जिन्होंने आधुनिक भारतीय कला के इन जन्मदाताओं को एक प्रेरणा-स्रोत में बांधा था और परवर्ती शिष्य परंपरा के लिये एक पुनीत मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

यह पुस्तक कला के शिक्षार्थियों (विद्यार्थियों और प्रेमियों दोनों) के लिये बड़ी ही उपयोगी है। जोगीमारा, अजन्ता और बाघ के चित्रों का अलग-अलग अध्यायों में विवेचन है, जो बड़ा ही मार्मिक और जीवन्त है। इसी प्रकार अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की शिष्य-परंपरा का निरूपक परिशिष्ट भारतीय कला के इतिहास के प्रत्येक पाठक के लिये बहुत ही अमूल्य है। उदाहरण रूप दिये गये दस चित्रों ने इस पुस्तक के महत्त्व में चार चांद लगा दिये हैं। मुद्रण और प्रकाशन भी सुरुचिपूर्ण है।

—राजेन्द्र द्विवेदी

ठुमरी गायकी : रचयिता—तुलसीराम; प्रकाशक—संगीत कार्यालय, हाथरस; मूल्य तीन रुपये।

कुछ प्रसिद्ध ध्रुवपदों का संग्रह स्वरलिपि में श्री गोपेश्वर बैनर्जी ने प्रकाशित किया था, जो अब दुष्प्राप्य है। पं० भातखण्डे जी ने कुछ ध्रुवपद और अधिकांश ख्यालों का संग्रह स्वरलिपि में छः भागों में प्रकाशित किया। यह संग्रह बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। इसके द्वारा सुन्दर ख्यालों के सस्वर बोल संगीत-प्रेमियों को मिल गये।

अभी तक ठुमरी का एक छोटा-सा संग्रह श्री राजाभैया पूंछवाले ने प्रकाशित किया था। उसमें कुछ पुरानी ठुमरियां और दादरे मिल जाते हैं। परन्तु उनकी संख्या बहुत अल्प है। ठुमरी पर जो दूसरा ग्रन्थ देखने में आता है, वह है 'ठुमरी-गायकी' नामक ग्रन्थ जिसके श्री तुलसीराम रचयिता हैं। ठुमरी भाव-पक्ष की गायकी है। जो संगीत-शास्त्र जानते हैं और जो नहीं जानते दोनों पर इसका असर होता है। यहां तक कि बहुत से ख्याल-गायक भी अपने गायन के अन्त में प्रायः एक ठुमरी गाकर सुनाते हैं। मधुर ठुमरियों के संग्रह की बड़ी आवश्यकता है।

उपर्युक्त पुस्तक के रचयिता ने ठुमरियों को स्वरलिपि में बद्ध कर एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। ठुमरी को स्वरलिपि

compiled and created by Bhartesh Mishra

में लिखना बहुत कठिन काम है। ठुमरी की विशेषता मुकरियों और ताल के झोल में रहती है और इनको स्वरलिपि में प्रदर्शित करना कठिन है। इस कठिनाई को देखते हुए रचयिता को पर्याप्त सफलता मिली है।

इस पुस्तक में जो बात खटकती है वह यह है कि एक-दो ठुमरियों को छोड़कर रचयिता ने सब अपनी ही रचनाएं दी हैं। सनदपिया, ललनपिया, अख्तरपिया, श्यामकुंवर इत्यादि की पारम्परिक ठुमरियां इसमें नहीं हैं। दो-एक पारम्परिक ठुमरियां जो दी भी हैं, उनके बोल चिन्त्य हैं। उदाहरणार्थ पृष्ठ 103 पर "फुल गेंदवा न मारो' वाली ठुमरी के अन्तरा का बोल दिया है 'कारे बलम दरदिया न जाने"। इसका अधिक पारम्परिक रूप है "बारे बलम दरदिया न जाने"।

इसमें चैती और दादरा इत्यादि के जो गाने हैं वे भी ग्रन्थकर्त्ता की निजी रचनाएं है। यदि इस ग्रन्थ में कुछ पारम्परिक रचनाओं का संग्रह होता, तो यह रसिकजनों के लिए अधिक मल्यवान् होता।

—ठाकुर जयदेवसिंह

वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति : लेखक—म० म० श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी; प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; मूल्य साढ़े-तीन रुपये (अजिल्द), पांच रुपये (सजिल्द)।

ग्रन्थ के भूमिका-लेखक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में म० म० पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति विषय पर जो व्याख्यान बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के समक्ष दिये थे, उनका (प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं का संग्रह है) कुछ विलक्षण ही महत्त्व है। वेदों पर जो साहित्य अभी तक हमें उपलब्ध होता है, उसमें या तो वेदान्त विषयक ब्रह्मज्ञान का या यज्ञीय कर्मकांड का ही निरूपण पाया जाता है, किन्तु इन भाषणों में वदिक परिभाषाओं के अर्थापन या व्याख्या की एक नई शैली का आश्रय लिया गया है, जिसे "वैदिक विज्ञान" संज्ञा दी गई है। वैदिक ऋषियों को वैदिक विज्ञान या सृष्टि विद्या की व्याख्या ही इष्ट थी, वैदिक ऋचाओं की यज्ञ परक मीमांसा (सायण, माधव आदि के भाष्यों में) शृंगग्राहिका (अन्धे द्वारा मात्र सींग पकड़कर उसी के आधार पर किसी पशु की परिभाषा करना) ही की गई है। महर्षि दयानन्द सरस्वती आधुनिक विज्ञान-युग से परिचित अवश्य थे, पर उनकी प्रवृत्ति वैदिक अर्थापन में सामाजिक बात की ओर थी। चतुर्वेदी जी का यह अध्ययन गुरुपरंपरा से (अपने गुरु पं० मधुसूदन ओझा से) प्राप्त ज्ञान का अपनी सहज प्रज्ञाशील प्रतिभा से उपबृंहित रूप है।

चतुर्वेदी जी ने मार्कण्डेय पुराण के युगधर्माख्यान प्रकरण का उल्लेख करके यह बताया है कि आधुनिक विकासवादियों जैसे ही सिद्धांतों का वहां वर्णन किया गया है। इसके अनुसार पहले जन-समुदाय पर्वतों में निवास करता था, फिर वृक्षों के नीचे, फिर घरों में। पहले कन्द आदि भोग्य थे, फिर फल, पत्र, रस, औषधियों आदि का विकास हुआ। अंतर इतना ही है कि विकासवादी जिस क्रम का विकास या उन्नति कहकर वर्णन किया करते हैं, उसी का यहां ह्रास कहकर वर्णन किया गया है। वैदिक विज्ञान प्रत्येक वस्तु म उसकी प्राणशक्ति को भी विद्यमान मानता है, जो जगदीशचन्द्र वसु का नवीन सिद्धांत है। आकाश का गुण वेदों ने शब्द माना था, जबकि पश्चिमी विज्ञान वायु के गुण को शब्द मानता रहा है। रेडियो के आविष्कार ने उन्हें वैदिक सिद्धांत को मान्यता देने के लिए विवश कर दिया।

एक ऋचा—अग्निर्जागार तमयं सोम आह, तदाहमास्ते सख्ये न्योका : (ऋक् 5.54.15) (जागते हुए अग्नि से सोम कहता है कि मैं तुम्हारी मित्रता में हूं। किन्तु तुम से छोटी श्रेणी का हूं) का उल्लेख करके लेखक निरूपित करता है कि इसमें यह संकेत है कि मौलिक तत्त्व आक्सीजन-हाइड्रोजन नहीं, बल्कि इलैक्ट्रोन-प्रोटोन हैं।

इस प्रकार के रोचक प्रसंगों के साथ-साथ इन भाषणों में वेदों से सम्बन्धित सामान्य प्रश्नों का भी ऊहापोहपूर्ण विवेचन है, जैसे वेद पौरुषेय हैं या अपौरुषेय, वेद तीन हैं या चार, वेदों में ब्राह्मणों को गिना जाये या नहीं आदि। इन सबमें चतुर्वेदी जी का दृष्टिकोण स्वभावतः पश्चिमी दृष्टिकोण के विपरीत है।

इसके साथ ही वेदों के शाखा भेद, वेदों में निरूपित मूलतत्त्व, पुरुषतत्त्व, पंचभूतसिद्धांत, सृष्टि निरूपण, पितृ-पितृलोक, काल गणना, देव-निरूपण, मनोविज्ञान, तारा-विज्ञान, तत्कालीन भूगोल, वर्णाश्रम व्यवस्था, आचार-व्रत-पर्व-अवतार आदि भारतीय सांस्कृतिक विशेषताओं का विवेचन है। ग्रंथ का उत्तरार्ध भारत की इन्हीं सांस्कृतिक विशेषताओं की एक विशिष्ट चर्चा है। भारतीय संस्कृति के ऊपर किये जाने वाले कुछ आक्षेपों का भी लेखक ने उत्तर दिया है।

प्रायः तीन सौ पृष्ठ का यह ग्रंथ हमारे विचार से हिन्दी में वैदिक ज्ञान ('विज्ञान' कहना अनिवार्यतः आवश्यक नहीं) की ऐसी चर्चा प्रस्तुत करता है, जिसमें बहुत कुछ नया, मननीय और अध्येय है। ऐसे प्रसंगों में कुछ बहुधा निरूपित बातों का पिष्ट-पेषण आ जाना भी स्वाभाविक ही है। इस विषय में थोड़ी-सी भी रुचि रखने वालों के लिये पुस्तक बड़ी ही पठनीय और संग्रहणीय है।

—राजेन्द्र द्विवेदी

दूब जनम आयी : लेखक शिवसागर मिश्र, प्रकाशक आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली, मूल्य चार रुपए, पृष्ठ संख्या, 211।

ग्रामीण जीवन की पृष्ठभूमि को लेकर लिखे गए उपन्यासों की परम्परा में शिवसागर मिश्र द्वारा लिखित 'दूब जनम आयी' उपन्यास एक नवीनतम रचना है। बाईस अध्यायों में बंटी हुई 211 पृष्ठों की इस कृति में एक ओर तो एक व्यक्ति के जीवन की दारुण कथा है, तो दूसरी ओर वर्तमान ग्राम की बदलती हुई सामाजिक और आर्थिक अवस्था का चित्रण। कथानक की सारी घटनाएं, पात्रों की समस्त गतिविधियां प्रमुख पात्र जगनारायण उर्फ जग्गू को केन्द्रित कर ही चलती है। परन्तु वास्तव में जग्गू के जीवन से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। दुनियां और दुनियादारी की झंझटों से अलग-थलग शान्त और निर्लिप्त जीवन बिताने वाले

compiled and created by Bhartesh Mishra

जग्गू की अन्त में क्या अधोगति होती है, इसका सजीव चित्रण लेखक ने किया है। यह भी एक विडम्बना ही है कि जग्गू जैसा सरल, सीधा व्यक्ति अनायास व अकारण दूसरों के किए का परिणाम भोगता है। जग्गू के चित्रण में लेखक ने पूर्ण सफलता पाई है। उपन्यास समाप्त करने पर गोदान के होरी जैसा जग्गू का चरित्र पाठकों के मन में चिरन्तन स्थान बना सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

उपन्यास का दूसरा पक्ष उसकी ग्रामीण व्यवस्था है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के विकासोन्मुख गांव को लेखक ने नई परिस्थितियों के संदर्भ में देखा है। ऊपरी तौर पर गांव सचमुच उन्नति कर रहा है, सड़कें बन रही हैं, स्कूल और अस्पताल खोले जा रहे हैं। बिजली लग रही है, शिक्षा का प्रचार किया जा रहा है। लेकिन फिर भी गांव की अन्दरूनी हालत कुछ और है—वही रूढ़िवादी दृष्टिकोण और संस्कार। फलस्वरूप, वर्तमान प्रगति के बावजूद तमाम कुरीतियां आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। विकासोन्मुख वातावरण में यह विरोधाभास निराशा की ओर संकेत करता है। लेकिन, लेखक का विश्वास है कि विकासशील परिस्थिति में यह विरोधाभास हमेशा नहीं रहेगा। दूब अभी जनमी है, वह पैरों तले रौंदी जाने पर भी जीवनदायिनी आशा का संदेश लेकर उद्भासित होगी।

एक स्थल पर वर्णन करते-करते लेखक ने व्यक्ति विशेष को ला घसीटा है जो मेरे विचार से समीचीन प्रतीत नहीं होता। कथानक के क्रूर पात्र बिसेसर सिंह के दो मुंहलगे पात्रों का ज़िक्र करते हुए लेखक कहता है—"दोनों गंजेरी और अफ़ीमची थे। जाति के राजपूत होते हुए भी, रात के अंधेरे में दुसाधन चमार के घर जाकर लबनी की लबनी ताड़ी पी जाते, वहीं पर किसी के घर में सेंध लगाने की योजना बनाते, रात भर चोरी करते और सुबह होते ही खादी का कुरता, खादी की धोती और गांधी टोपी पहन कर पाक-साफ इन्सान बन जाते, छुआछूत का विचार रखते और मुखमण्डल पर गहन-गांभीर्य लिए गांव वालों को अनावश्यक राय देते फिरते। उन्हें देख कर लगता जैसे 'आचार्य विनोबा जी" की मण्डली के दो जीवनदानी रास्ता भूल कर इधर भटक आए हों" (पृष्ठ 33)। उपन्यास में सामाजिक कुरीतियों का वर्णन जायज़ है, लेकिन उसके लिए निर्लिप्त सन्त के नाम का उल्लेख अनावश्यक है।

उपन्यास की भाषा चुस्त प्रवाहमयी, और दिलचस्प है। कतिपय गीतों का समावेश कर आंचलिकता का आभास सभी दे दिया गया है। आशा है कि हिन्दी जगत् में प्रस्तुत उपन्यास का स्वागत होगा।

—गोपाल शर्मा

ढोंगी रूपान्तरकार : विनोद रस्तोगी; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य डेढ़ रुपया।

हिन्दी रंगमंच की दिन-दिन बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि विश्व के श्रेष्ठ नाटकों के हिन्दी रंगमंच के उपयुक्त रूपान्तर तैयार किए जाएं। यह काम एक योजना के अनुसार होना चाहिए और विश्व की सभी भाषाओं के श्रेष्ठ नाटक हिन्दी रंगमंच के लिए यथाशीघ्र उपलब्ध हो जाने चाहिए। प्रस्तुत रूपान्तर इस दिशा में एक कदम है और इस दृष्टि से सर्वत्र इसका स्वागत किया जाएगा।

किन्तु साथ ही एक और महत्वपूर्ण प्रश्न भी विचारणीय है। इन नाटकों का हिन्दी रंगमंच के लिए अनुवाद करते समय क्या इनके पात्रों, स्थितियों, संवादों आदि का भी भारतीयकरण कर दिया जाना चाहिए? क्या इन रूपान्तरों में मूल नाटककार का केवल कथानक ही लिया जाए और उसके आधार पर हिंदी में एक प्रायः नया और सर्वथा पुनर्निर्मित नाटक प्रस्तुत किया जाए? क्या इस प्रकार हम विश्व के उन अमर नाटककारों के प्रति न्याय करेंगे? अथवा क्या इससे भारतीय रंगमंच का भी कोई विशिष्ट उपकार होगा?

दिल्ली में गत वर्ष शेक्सपियर के मैकबेथ के अभिनय के समय इस प्रकार की कुछ समस्यायें उठी थीं। दर्शकों से यह आशा की गई थी कि वे कला के माध्यम द्वारा शेक्सपियर का रसास्वादन करने के लिए यह कल्पना कर लें कि उस युग में स्काटलैंड में हिन्दी बोली जाती थी। इस प्रकार जैसे ही दर्शकों ने अपने आपको व्यवस्थित कर लेने का वचन दिया, अनुवादक शेक्सपियर के मूल भावों-स्थितियों की रक्षा का दावा कर सकेगा।

यह तो ऐसे अनुवादों की एक रीति हुई। प्रस्तुत अनुवाद इस रीति पर नहीं चला है। यह एक रूपान्तर है और भाषा, भाव, पात्र, संवाद, परिस्थिति—प्रत्येक वस्तु का भारतीयकरण कर दिया गया है, जिससे दर्शक उसे सर्वथा एक भारतीय नाटक के रूप में देख सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि अनुवादक ईमानदारी पूर्वक यह स्वीकार न करता कि यह नाटक मोलिएर के "तार्त्युफ उ लैंपोस्तर" (लगता है रूपान्तरकार ने मूल के अंग्रेजी अनुवाद पर अपना रूपान्तर आधारित किया है, क्योंकि मूल फ्रेंच नाटक के इस नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं है) का हिन्दी रंगमंच के अनुकूल एक रूपान्तर है, तो कम-से-कम के दर्शक-पाठक, जो मोलिएर से परिचित नहीं हैं, इसे एक मौलिक नाटक मान बैठते। यह भी अपने आप में एक विशिष्ट सफलता है।

हम इस बात से इन्कार नहीं कर सकते कि हमारे लोकप्रिय रंगमंच के लिए प्रसिद्ध नाटकों के ऐसे रूपान्तरों की भी आवश्यकता है। निष्कर्ष यह है कि विश्व के प्रसिद्ध नाटकों के दो प्रकार के अनुवाद हिन्दी में आने चाहिए : एक तो सर्वथा मूल पर आधारित और मूल-सापेक्ष अनुवाद और दूसरे भारतीय रंगमंच के अनुकूल केवल मूल कथानक पर आधारित (या भारतीय दृष्टि से कथानक में भी हेरफेर करने वाले) रूपान्तर। चूंकि यह दूसरे प्रकार का रूपान्तर है, इसलिए उसकी समीक्षा भी उसी दृष्टि से की जानी चाहिए। यह अलग बात है कि मूल पर आधारित अनुवाद की भी आवश्यकता बनी रहेगी। यह हर्ष का विषय है कि मोलिएर के जिन नाटकों को भारतीय भाषाओं में अनुवाद करने के लिए साहित्य अकादेमी ने चुना है, यह नाटक भी उनमें से एक है। इस प्रकार एक सर्वथा शुद्ध अनुवाद भी कालान्तर में हिन्दी जगत को मिल जाएगा।

भावानुवाद और रूपान्तर की भी अपनी कठिनाइयां होती हैं। यह रूपान्तर पाठकों-दर्शकों के मनोरंजन के लिए किया गया है और इस दृष्टि से किया गया है कि मंच पर उसे सफलतापूर्वक

compiled and created by Bhartesh Mishra

अभिनीत किया जा सके। मूल नाटक के पांच अंक घटाकर तीन कर दिए गए हैं। दृश्यों के विभाजन को समाप्त कर दिया गया है। मूल गीति-नाटक का संक्षिप्त गद्यानुवाद किया गया है। स्वभावतः पूरा ढांचा बदल गया है। स्थूल बातों को बदलने की धुन में अनुवादक ने कुछ सूक्ष्म बातों पर ध्यान नहीं रखा है। पृष्ठ सात पर दर्शन (मूल का दामिस) और कमल (मूल का क्लेआंत) के संवाद में जब दर्शन कहता है कि मीरा का ब्याह विनोद से होना ही चाहिए, तो कमल हँसकर उत्तर देता है : "क्योंकि तुम विनोद की बहन को प्यार करते हो। शरमाओ मत! मैं सब जानता हूं। विश्वास रखो, एक बारात यहां आएगी और दूसरी वहां जाएगी।" अब साले के साथ प्रत्यादान में बहिनोई की बहन के ब्याहे जाने की रीति यहां प्रचलित नहीं है, अतः यह बात असंगत लगती है। चूंकि विनोद की बहन से कमल के विवाह का मूल, कथानक से कोई अभिभाज्य सम्बन्ध नहीं है, अतः इस बात को बिल्कुल छोड़ ही दिया जा सकता था।

जैसा ऐसे अनुवाद में स्वाभाविक है, इस रूपान्तर में मूल के कवित्व की रक्षा की आशा नहीं की जा सकती। कुछ स्थलों को मैंने मूल से मिलाने का प्रयत्न किया, तो निराशा ही हाथ लगी। पृष्ठ नौ पर आनन्द की ताराचन्द की प्रशंसा सम्बन्धी उक्ति मूल में छटापूर्ण कविता में प्रायः पचीस पंक्तियों में है, जबकि रूपान्तर में उसे आठ दस पंक्तियों में समेटा गया है। स्वभावतः बहुत कुछ छूट गया है। 'तभी मुझे लल्लू से मालूम हुआ' में जिस 'लल्लू' का जिक्र है, वह मूल के अनुसार ताराचन्द (तार्त्युफ़) का 'बॉय' है, पर अनुवाद से यह स्पष्ट नहीं। साथ ही मूल में आनन्द के ताराचन्द से प्रभावित होने की जो भावुक विवेचना है, उसके एक अंश का भी निर्वाह इन गद्यपंक्तियों में नहीं हो सका है।

प्रश्न यह है कि इस प्रकार के रूपान्तरित भावानुवाद कितनी आजादी ले सकते हैं और कहां वे अपनी सीमा का अतिक्रमण कर जाते हैं? फ्रांस में मोलिएर और उनकी कौमेडियों का अपना स्थान है—वैसा ही जैसा शेक्सपियर और उसकी कौमेडियों का इंग्लैंड में। उनका अपना दर्शन है, अपना विश्वास है। मोलिएर के शब्दों में 'कौमेडी का उद्देश्य विनोद द्वारा मनुष्य की त्रुटियों पर चुटकी लेते हुए उसका परिष्कार करना है।' तार्त्युफ का भी अपना इतिहास है। इस नाटक को मंच तक लाने में मोलिएर को किस प्रकार जेज्विटों और पाखंडी धर्माधीशों से संघर्ष करना पड़ा। कितनी बार मूल रचना में परिवर्तन करना पड़ा, किस प्रकार स्वयं सम्राट् के अनुग्रह के कारण ही वह मंच पर अभिनीत हो सका और फिर जनसाधारण द्वारा उसका कितना आशातीत स्वागत हुआ—ये सब परिस्थितियां भी हिन्दी पाठक दर्शक के समक्ष किसी न किसी रूप (भूमिका) में आनी चाहिए। तभी मोलिएर का जीवन-दर्शन और कला-दर्शन और उसकी समस्यायें हमारे पाठकों-दर्शकों के निकट स्पष्ट हो सकती हैं और तभी हम मोलिएर का हिन्दी जगत् के समक्ष सम्यक् मूल्यांकन कर सकते हैं।

शि० सदाशिवन्

—:o:—

विभिन्न भारतीय भाषाओं को, और उनके साहित्य को एक-दूसरे के निकट लाकर हम विचार जगत् में साम्य और सद्भावना के साथ भावनात्मक एकता का वातावरण पैदा कर सकते हैं। यह प्रयास हमारे देश के इतिहास में नवीन नहीं कहा जा सकता। एकता की भावना को सुदृढ़ करने के लिये यदा-कदा ऐसे प्रयत्न पहले भी होते रहे हैं। सदियों तक विभिन्नता और विविधता-रूपी मणियों को संस्कृत भाषा ने एकत्रित कर एक माला के रूप में पिरोये रखा है।

डा० राजेन्द्र प्रसाद

[भारती संगम' के उद्घाटन के अवसर पर]

compiled and created by Bhartesh Mishra

परिचय

बनारसीदास चतुर्वेदी	राज्य सभा के सदस्य। लब्धप्रतिष्ठ पत्रकार और लेखक। अनेक ग्रन्थों के लेखक तथा सम्पादक।
डा० सत्येन्द्र	एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्, प्रायः तीस वर्ष से अध्यापन कर रहे हैं। आजकल क० मु० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय में रीडर। सुप्रसिद्ध समालोचक, निबंधकार, नाटककार, कहानीकार और पत्रकार तथा अनेक ग्रन्थों के लेखक।
चार्ल्स फाबरी	पी० एच० डी०, डी० लिट्, विजिटिंग यूरोपियन प्रोफेसर, शान्तिनिकेतन (1934) सेन्ट्रल म्यूजियम लाहौर में 1948 तक विशेषाधिकारी और संग्रहाध्यक्ष रहे, 1954 तक राष्ट्रीय संग्रहालय और दिल्ली पोलीटेकनिक में प्राध्यापक रहे। कला और पुरातत्व पर अनेकों पुस्तकों के रचयिता तथा आजकल स्टेट्समैन, नई दिल्ली में कला आलोचक हैं।
मीना स्वामीनाथन्	बी० ए० (केन्टाब) एम० ए०, बी० एड०, सेंट थोमस गर्ल्स हायर सैकण्डरी स्कूल, नई दिल्ली में अंग्रेजी की अध्यापिका।
आर० के० कपूर	एम० ए० (लिट्) (आक्सफोर्ड) एम० ए० (मद्रास) शिक्षा मंत्रालय में उप-शिक्षा सलाहकार।
डा० नगेन्द्र	एम० ए०, ~~पी० एच० डी०~~, डी० लिट्, लब्धप्रतिष्ठ आलोचक; अनेक ग्रन्थों के लेखक: आजकल दिल्ली वि० वि० में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष।
काका कालेलकर	सुप्रसिद्ध विचारक और लेखक। आजकल राज्य सभा के सदस्य।
के० एम० पन्निकर	सुप्रसिद्ध लेखक और राजनयज्ञ। आजकल राज्य सभा के सदस्य।
जैनेन्द्र कुमार	लब्धप्रतिष्ठ विचारक और उपन्यासकार।
पी० पारिजा	उत्कल विश्वविद्यालय के उपकुलपति, कई ग्रन्थों के लेखक।
मो० मुजीब	जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली के उपकुलपति। आक्सफोर्ड और जर्मनी में शिक्षा पाई, इतिहास, राजनीति शास्त्र और साहित्य आदि कई पुस्तकों के लेखक।
विष्णु प्रभाकर	हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार तथा उपन्यासकार। अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।
महेन्द्र चतुर्वेदी	एम० ए०, आजकल दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक।
नारायण प्रसाद पांडे	एम० ए०, आजकल वै० अ० और सा० कार्य मंत्रालय में हिन्दी अनुवादक।
गोपाल शर्मा	मध्य प्रदेश सरकार में भाषा विभाग के संचालक रहे। आजकल केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय में उपनिदेशक।
क्षेमचन्द्र सुमन	आजकल साहित्य अकादेमी में सहायक, अनेक ग्रन्थों के लेखक।
ठा० जयदेव सिंह	एम० ए० (दर्शन शास्त्र) एल० टी०, एक कालेज के प्रिंसिपल रह चुके हैं। अनेक भारतीय संगीत परिषदें आयोजित की। संगीत पर अनेक वार्तायें लिख चुके हैं। आजकल आकाशवाणी में संगीत के मुख्य नियोजक हैं।
शि० सदाशिवन्	एम० ए०, आजकल विदेश मंत्रालय में फ्रेंच भाषा के दुभाषिया।

compiled and created by Bhartesh Mishra

हमारे अन्य अवश्य-पठनीय प्रकाशन

संस्कृति क्या है : एक संगोष्ठी

इस पुस्तिका में संस्कृति के साम्राज्य की दुर्बोध्य सीमा को परिभाषित और निर्धारित करने वाले कुछ विचारपूर्ण दृष्टिकोण दिये गये हैं। संस्कृति के विशाल क्षेत्र में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह पुस्तिका बड़ी ही संग्रहणीय ह। रोचक सामग्री और आकर्षक मुद्रण इस पुस्तिका की अनन्य विशेषतायें हैं।

मूल्य : पच्चीस नये पैसे

आज की कहानी : एक संगोष्ठी

इस पुस्तिका में अमेरिका, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, ब्रिटेन और भारत के कथा साहित्य का अद्यावधिक सर्वेक्षण करने वाले मनोरंजक लेख हैं। हिन्दी कहानी के बारे में एक परिचयात्मक लेख अलग से भी दिया गया है, जिसके लेखक हिन्दी के एक मूर्धन्य लेखक श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार हैं। इस पुस्तिका की सामग्री बड़ी ही पठनीय है।

मूल्य : पच्चीस नये पैसे

भारतीय रंगमंच के क्षितिज

भारतीय रंगमंच के अनेक ज्वलंत प्रश्नों पर ऊहापोहपूर्ण लेखों का यह अद्वितीय संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। भारतीय रंगमंच की बहुत-सी कठिनाइयों की चर्चा इन लेखों में की गई है और भविष्य के दिशा निर्देश के लिये अनेक सुझाव दिये गये हैं। प्रत्येक नाटक-प्रेमी के लिये इस पुस्तिका का पठन और संग्रह अपरिहार्य रूप से आवश्यक है, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। अभी से अग्रिम मनीआर्डर भेजकर अपनी प्रति सुरक्षित कर लें।

मूल्य : पच्चीस नये पैसे

प्रेस में

हमारा रहन-सहन : एक संगोष्ठी

भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता : एक संगोष्ठी

compiled and created by Bhartesh Mishra

गणेश मूर्ति
(भौगोलिक और ऐतिहासिक विकास)
राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली
(संग्रहालय ऐसे अनेक शिक्षाप्रद
चार्टों से सुसज्जित है)

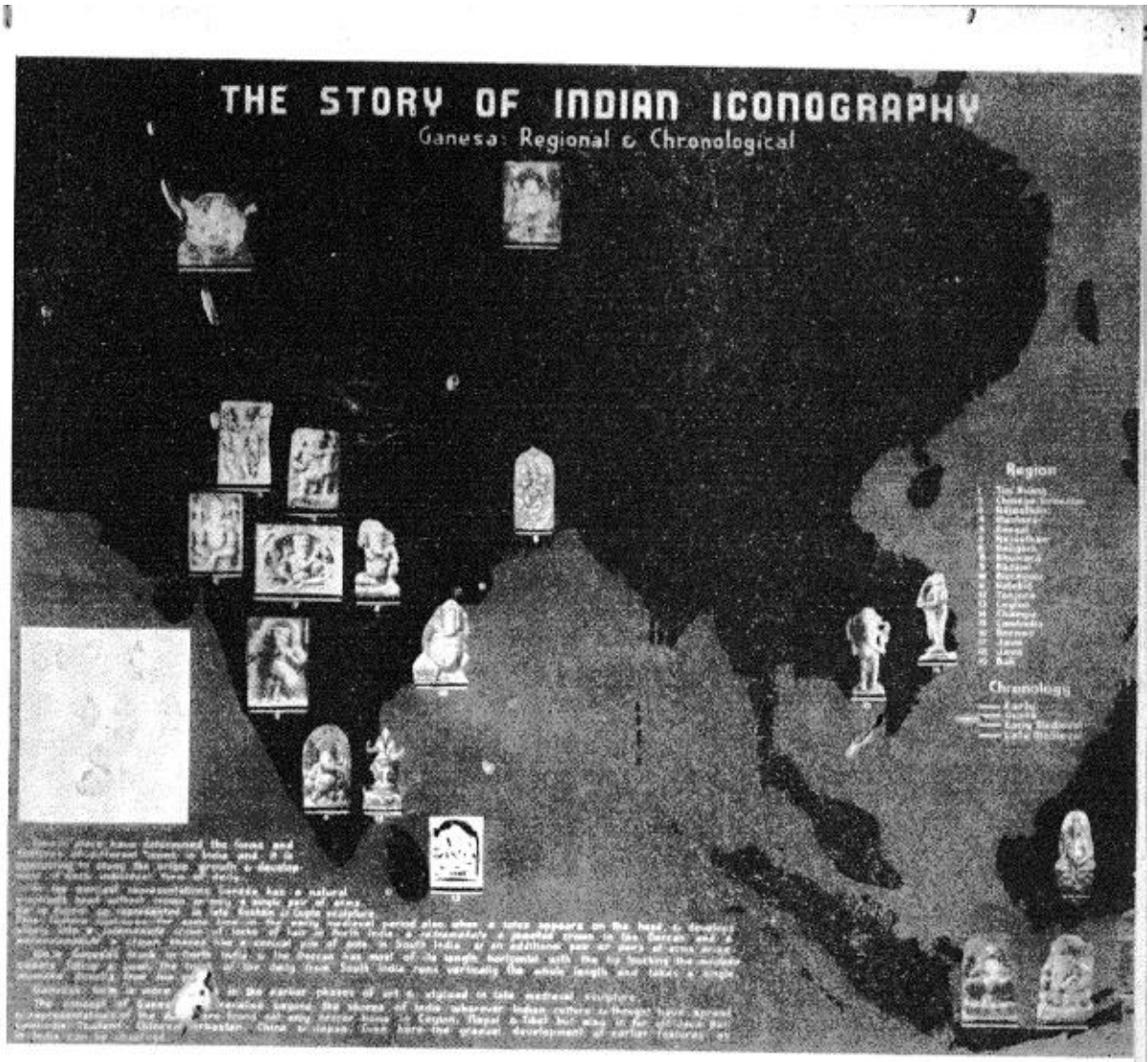

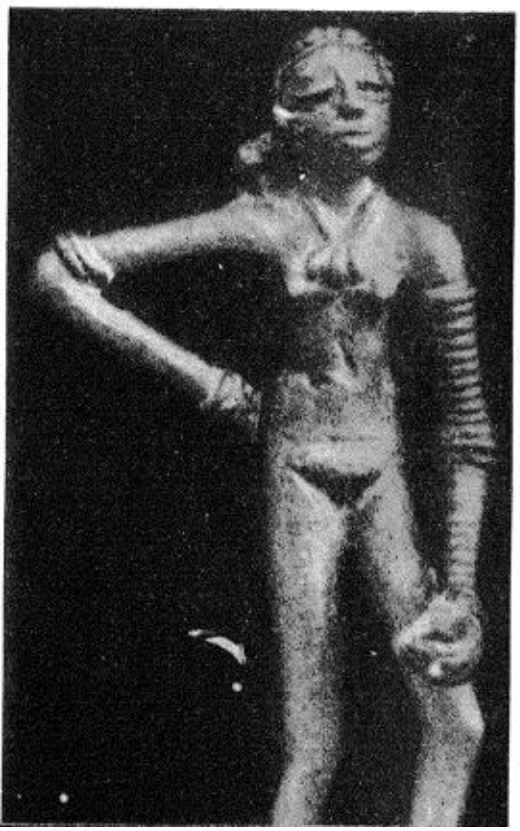

मोहेनजोदड़ो
की
नर्तकी
(कांस्य)

compiled and created by Bhartesh Mishra

NATIONAL LIBRARY
CALCUTTA
No..... Date 16 JAN 1961

१५१५

सम्पादकीय मण्डल

मा० सं० थेकर श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
श्रीमती मुरियल वासी डा० नगेन्द्र
राजेन्द्र द्विवेदी (सचिव)

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा भारत में मुद्रित, 1960

compiled and created by Bhartesh Mishra